अप्रैल-जून 2026

राष्ट्रवाक्

राष्ट्र-जागरण का सनातनी उद्‌घोष

राष्ट्र सेवा के 100 वर्ष

वंदे मातरम्

वंदे मातरम्।
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्।
शस्यश्यामलां मातरम्।।
वंदे मातरम्।।

शुभ्रज्योत्स्ना पुलकित यामिनीम्।
फुल्ल कुसुमित द्रुमदलशोभिनीम्।
सुहासिनीं सुमधुर भाषिणीम्।
सुखदां वरदां मातरम्।।
वंदे मातरम्।।

कोटि-कोटि कंठ कल-कल निनाद कराले,
कोटि-कोटि भुजैर्धृत खरकरवाले।
अबला केनो मा एतो बले?
बहुबलधारिणीं नमामि तारिणीं,
रिपुदलवारिणीं मातरम्।।
वंदे मातरम्।।

त्वं हि विद्या, त्वं हि धर्म,
त्वं हि हृदि, त्वं हि मर्म।
त्वं हि प्राणाः शरीरे।
बाहुते त्वं मा शक्ति,
हृदये त्वं मा भक्ति,
तोमारइ प्रतिमा गढ़ि
मंदिरे-मंदिरे।।
वंदे मातरम्।।

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी,
कमला कमलदल विहारिणी,
वाणी विद्यादायिनी।
नमामि त्वाम्।
नमामि कमलाम् अमलाम् अतुलाम्,
सुजलाम् सुफलाम् मातरम्।।
वंदे मातरम्।।

श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषिताम्,
धरणीं भरणीं मातरम्।।
वंदे मातरम्।।

राष्ट्रवाक्

राष्ट्र-जागरण का सनातनी उद्घोष

अप्रैल-जून 2026

संपादक
कमलेश कमल

प्रबंध संपादक
जलज कुमार 'अनुपम'

संपादन सहयोग
डॉ. दिवाकर राय
पीयूष द्विवेदी
सर्वेश तिवारी 'श्रीमुख'

आवरण
राज नंदनी

संपर्क सूत्र :
बी-346, भूतल बिपिन गार्डन,
नयी दिल्ली-110041 (भारत)
मेल : editorrashtravak@gmail.com
फ़ोन: +91-99-34-86-96-27
वेबसाइट :www.rashtrawak.in

सदस्यता संबंधी विवरण और विज्ञापन हेतु
संपर्क : 9934869627

यह सनातन लाइफ स्टाइल फाउंडेशन की प्रतिनिधि पत्रिका है। इसमें प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सर्वाधिकार सुरक्षित, राष्ट्रवाक् से संबंधित सभी विवाद दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा। इस पत्रिका में अभी सारे पद अवैतनिक हैं।

अनुक्रम

- संपादकीय / डॉ. सुशील चंद्र त्रिवेदी
  राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : शताब्दी वर्ष में एक सिंहावलोकन 4
- हिंदुत्व : वास्तविकता एवं भ्रांति / प्रणय कुमार 11
- संघ कार्य में गीतों की प्रासंगिकता / लक्ष्मीनारायण भाला 'लक्खीदा' 15
- 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' की परिकल्पना को साकार करता एकल अभियान / सिद्धार्थ शंकर गौतम 16
- सबल राष्ट्र का रचनाकार / अमरेंद्र कुमार उन्मेष 19
- संघ से जुड़ें, समाज को जोड़ें : राष्ट्रीय एकता और सेवा की प्रेरणा / मुकेश गुप्ता 21
- भारतीय कला-दृष्टि : संवेदना, अध्यात्म और संस्कृति का शाश्वत आलोक / राहुल चौधरी 23
- विचार से विस्तार तक राष्ट्र निर्माण की गाथा है संघ की शताब्दी यात्रा / जलज कुमार अनुपम 26
- संघ दृष्टि : "हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है" / इंदुशेखर तत्पुरुष 33
- पंच परिवर्तन: राष्ट्र जागरण से वैश्विक प्रासंगिकता तक / डॉ. शिवेश प्रताप 38
- भारत-विभाजन के समय स्वयंसेवकों की भूमिका / डॉ. दिवाकर राय 42
- राष्ट्रध्वज तिरंगा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ / कृष्णमुरारी त्रिपाठी अटल 46
- अनादि समर : छावा के बलिदान से जाग उठा हिन्दू / डॉ. लोकेन्द्र सिंह 51
- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की एक सशक्त यात्रा / डॉ. भूपेन्द्र कुमार भगत 53
- "समरसता" की वर्तमान दिशा हिंदुत्व को सशक्त कर रही है या दुर्बल ? / कुमार दीपांशु 56
- संघ, सत्ता और सिनेमा: बदलते भारत की नई कहानी / ओम लवानिया 'प्रोफेसर' 58
- व्यक्ति निर्माण की मूक साधना / प्रशांत सौरभ 60
- शताब्दी वर्ष में संघ के समक्ष नई चुनौतियां: एक देशभक्त बौद्धिक की दृष्टि में / प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज 62
- राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में संघ की भूमिका / डॉ. उमेश चन्द्र त्रिपाठी 66
- शाखा से शिखर तक : संघ की शताब्दी साधना / धनंजय उदय 70
- संघ की अथक-अविराम सिद्ध यात्रा के सौ वर्ष... / करुणा सागर पण्डा 71
- सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और वैचारिकी / डॉ. परमात्मा कुमार मिश्र 73

अतिथि संपादक

डॉ. सुशील चंद्र त्रिवेदी

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : शताब्दी वर्ष में एक सिंहावलोकन

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को समझने के लिए उसे केवल एक संगठन के रूप में नहीं, बल्कि भारत की वैचारिक और सांस्कृतिक चेतना के एक महत्त्वपूर्ण प्रवाह के रूप में देखना आवश्यक है। ऐसे भी, भारतीय समाज की विशेषता उसकी वैचारिक विविधता, संवादशीलता और असहमति को स्थान देने वाली परंपरा रही है।

एक लोकतांत्रिक देश के नागरिक के रूप में भी हमें यह विस्मृत नहीं होने देना है कि लोकतंत्र केवल चुनावों और संस्थाओं का नाम नहीं, बल्कि विचारों की स्वतंत्रता, सामाजिक सहभागिता और निरंतर विमर्श की संस्कृति का भी नाम है। भारत की इसी बौद्धिक परंपरा ने विभिन्न विचारधाराओं, आंदोलनों और संगठनों को जन्म दिया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी इसी व्यापक राष्ट्रीय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसने व्यक्ति-निर्माण, सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक जागरण को अपने कार्य का आधार बनाया।

संघ की शताब्दी यात्रा केवल उसके संगठनात्मक विस्तार की कथा नहीं है, बल्कि उन विचारों, मूल्यों और प्रयासों की भी कहानी है जिनके माध्यम से उसने भारतीय समाज, संस्कृति, शिक्षा, इतिहास, सेवा, विज्ञान, समरसता और राष्ट्र-निर्माण के विभिन्न आयामों को प्रभावित किया है। इस यात्रा को समझने के लिए न तो अंध-समर्थन पर्याप्त है और न ही पूर्वाग्रहपूर्ण आलोचना; बल्कि आवश्यक है कि संघ के विचार, कार्य, उपलब्धियाँ, सीमाएँ और उसके संबंध में चलने वाले विमर्श—सभी का संतुलित एवं तथ्याधारित अध्ययन किया जाए। राष्ट्रवाक् का यह अंक इसी उद्देश्य से संघ के विविध आयामों, उसके वैचारिक आधार, सामाजिक योगदान और समकालीन प्रासंगिकता का परिचय कराती है, ताकि पाठक स्वयं उसके स्वरूप और भूमिका का निष्पक्ष मूल्यांकन कर सकें।

वस्तुतः, वर्ष 2025 राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव लेकर आया है। विजयादशमी 1925 को स्थापित इस संगठन ने अपनी शताब्दी यात्रा पूर्ण कर ली है। किसी भी संस्था के लिए सौ वर्ष कोई सामान्य समयावधि अवधि के द्योतक नहीं होते; वरन् वे उसके विचार, कार्य, उपलब्धियों, चुनौतियों और समाज पर पड़े प्रभाव को देखने, जाँचने और एक पुनरवलोकन या सिंहावलोकन का अतिमहत्त्वपूर्ण पड़ाव होता है। विशेष रूप से तब, जब वह संस्था अपने को केवल एक संगठन न मानकर समाज-जीवन के व्यापक परिवर्तन का माध्यम मानती हो।

विदित है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) आज भारत का ही नहीं, विश्व का सबसे बड़ा स्वयंसेवी संगठन माना जाता है। लाखों स्वयंसेवक, हजारों दैनिक शाखाएँ, देश के लगभग प्रत्येक जिले तक फैला कार्य और शिक्षा, सेवा, ग्राम-विकास, श्रमिक, किसान, महिला, विद्यार्थी, विज्ञान, खेल, सहकारिता तथा संस्कृति जैसे विविध क्षेत्रों में सक्रिय सैकड़ों संगठनों का विशाल परिवार—यह सब मिलकर संघ की एक ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, जिसे केवल सांख्यिकीय आँकड़ों से नहीं समझा जा सकता। इसके लिए उसके मूल विचार और कार्य-दर्शन को समझना आवश्यक है।

संघ की वैचारिकी और कार्यदर्शन को समुद्घाटित करने के पूर्व यह देखना समीचीन होगा कि संघ को लेकर भारतीय समाज में अनेक प्रकार की धारणाएँ और बहसें रही हैं। जहाँ समर्थकों की दृष्टि में वह राष्ट्रजीवन को सुदृढ़ करने वाला सांस्कृतिक संगठन है, वहीं आलोचकों ने समय-समय पर उसकी विचारधारा और कार्यशैली पर प्रश्न भी उठाए हैं। किंतु तमाम मतभेदों से इतर यह तथ्य निर्विवाद है कि पिछले सौ वर्षों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत के सार्वजनिक जीवन का एक प्रभावशाली घटक बनकर उभरा है। ऐसे में, यह अभीष्ट है कि शताब्दी वर्ष में इस संगठन का मूल्यांकन केवल राजनीतिक दृष्टि से नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी किया जाना चाहिए।

सर्वविदित है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने 27 सितंबर 1925 (विजयादशमी) को नागपुर में की थी। यह वह समय था जब भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था और स्वतंत्रता आंदोलन अपने विभिन्न चरणों से गुजर रहा था। देश में राजनीतिक जागरण बढ़ रहा था, परंतु सामाजिक स्तर पर अनेक चुनौतियाँ भी विद्यमान थीं। जातिगत विभाजन, सामाजिक विखंडन, प्रांतीय अस्मिताएँ, सांप्रदायिक तनाव और आत्मविश्वास का ह्रास भारतीय समाज को भीतर से कमजोर कर रहे थे।

डॉ. हेडगेवार स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े हुए थे। वे कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता रहे और अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध संघर्ष में भाग लेने के कारण जेल भी गए। उन्होंने अनुभव किया कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं होगा। यदि समाज संगठित, अनुशासित और आत्मविश्वासी नहीं होगा तो स्वतंत्रता का वास्तविक लाभ राष्ट्र को नहीं मिल सकेगा। उनका मानना था कि भारत की मूल समस्या राजनीतिक से अधिक सामाजिक और सांस्कृतिक है। यदि समाज संगठित हो जाए, उसके भीतर राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हो जाए और व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर राष्ट्रहित को प्राथमिकता देने लगे, तो अनेक समस्याओं का समाधान स्वयमेव हो जाएगा। एक वाक्य में कहें तो संघ की स्थापना के मूल में यही विचार है।

ध्यातव्य है कि डॉ. हेडगेवार ने किसी राजनीतिक दल, आंदोलन या चुनावी मंच की स्थापना नहीं की। उन्होंने व्यक्ति-निर्माण और समाज-संगठन को केंद्र में रखा। उनके लिए राष्ट्र केवल भौगोलिक सीमा का नाम नहीं था, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक चेतना थी, जिसे सशक्त बनाने के लिए संगठित समाज की आवश्यकता थी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य-दर्शन एक सरल लेकिन गहन सूत्र पर आधारित है—व्यक्ति निर्माण से समाज निर्माण और समाज निर्माण से राष्ट्र निर्माण।

संघ का विश्वास है कि किसी भी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति उसके संविधान, संस्थाओं या संसाधनों में नहीं, बल्कि उसके नागरिकों के चरित्र में निहित होती है। यदि व्यक्ति ईमानदार, अनुशासित, कर्तव्यनिष्ठ और राष्ट्रनिष्ठ होगा तो समाज और राष्ट्र दोनों मजबूत होंगे। इसके विपरीत यदि व्यक्ति स्वार्थ, विभाजन और निराशा से ग्रस्त होगा तो सर्वोत्तम व्यवस्थाएँ भी अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकेंगी।

इसी कारण संघ ने अपने आरंभिक दिनों से ही व्यक्ति-निर्माण को प्राथमिकता दी। शाखा इसकी मूल इकाई बनी। ध्यान रहे कि शाखा केवल शारीरिक व्यायाम का स्थान नहीं है; वह एक प्रकार का सामाजिक प्रशिक्षण केंद्र है, जहाँ खेल, योग, गीत, प्रार्थना, बौद्धिक चर्चा और सामूहिक गतिविधियों के माध्यम से व्यक्तित्व का विकास किया जाता है।

संघ की दृष्टि में राष्ट्र कोई निर्जीव राजनीतिक संरचना नहीं, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक सत्ता है। इसलिए राष्ट्रभक्ति भी केवल भावनात्मक उद्घोष नहीं, बल्कि दैनिक जीवन के आचरण में प्रकट होने वाली महती जिम्मेदारी है। प्रत्येक स्वयंसेवक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व का भाव विकसित करे।

संघ को समझने के लिए शाखा को समझना आवश्यक है। शाखा संघ की मूल कार्यपद्धति है और पिछले सौ वर्षों से लगभग अपरिवर्तित रूप में चल रही है। प्रत्येक दिन निश्चित समय पर लगने वाली शाखा में विभिन्न आयु वर्ग के लोग एकत्र होते हैं। वहाँ जाति, भाषा, आर्थिक स्थिति, शिक्षा या सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर कोई भेद नहीं होता। सभी एक समान पंक्ति में खड़े होते हैं, साथ खेलते हैं, साथ बैठते हैं और साथ प्रार्थना करते हैं। देखने में यह एक साधारण गतिविधि प्रतीत हो सकती है, किंतु इसके पीछे गहरा सामाजिक दर्शन निहित है। वस्तुतः, शाखा व्यक्ति को अनुशासन, समयपालन, नेतृत्व, टीम भावना और आत्मविश्वास सिखाती है। साथ ही, यह समाज में व्याप्त कृत्रिम विभाजनों को कम करने का प्रयास करती है।

संघ के अनेक विचारकों ने शाखा को 'चरित्र निर्माण की प्रयोगशाला' कहा है। उनका मानना है कि बड़े परिवर्तन भाषणों से नहीं, बल्कि सतत अभ्यास और संस्कार से आते हैं। शाखा इसी संस्कार-निर्माण की प्रक्रिया का माध्यम है।

संघ के साहित्य में बार-बार एक बात दोहराई जाती है कि संगठन का अंतिम उद्देश्य केवल संगठन नहीं है। संगठन इसलिए आवश्यक है ताकि ऐसे व्यक्तियों का निर्माण हो सके जो समाज और राष्ट्र के लिए समर्पित भाव से कार्य कर सकें।

संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधव सदाशिव गोलवलकर 'श्रीगुरुजी' ने कहा था कि राष्ट्रनिर्माण का वास्तविक आधार मनुष्य निर्माण है। यदि व्यक्ति का चरित्र मजबूत होगा तो वह जिस क्षेत्र में जाएगा, वहाँ सकारात्मक परिवर्तन लाएगा। संघ की दृष्टि में आदर्श स्वयंसेवक वह है, जो अपने व्यक्तिगत जीवन में ईमानदार हो, समाज के प्रति संवेदनशील हो, कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य न खोए और राष्ट्रहित को सर्वोपरि रखे। यही कारण है कि संघ का प्रशिक्षण केवल वैचारिक नहीं, बल्कि व्यवहारिक भी है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि संघ के अनेक स्वयंसेवक विभिन्न क्षेत्रों—शिक्षा, प्रशासन, सेना, विज्ञान, उद्योग, साहित्य, सामाजिक सेवा और राजनीति—में सक्रिय रहे हैं। वे यह मानते भी हैं कि शाखा में प्राप्त संस्कारों ने उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक उत्तरदायी नागरिक बनने की प्रेरणा दी।

संघ के विचार में राष्ट्र की अवधारणा केवल राज्य या सरकार तक सीमित नहीं है। सरकारें बदलती रहती हैं, व्यवस्थाएँ बदलती रहती हैं, किंतु राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना बनी रहती है। हम जानते हैं कि भारतीय परंपरा में राष्ट्र को एक जीवंत इकाई माना गया है, जिसकी अपनी ऐतिहासिक स्मृति, सांस्कृतिक पहचान, मूल्य-व्यवस्था और जीवन-दृष्टि होती है। संघ इसी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा पर बल देता है। इस दृष्टि से भारत की एकता केवल राजनीतिक नहीं है। भाषा, वेशभूषा, भोजन, रीति-रिवाज और स्थानीय परंपराओं की विविधता के बावजूद भारतीय समाज को जोड़ने वाली एक गहरी सांस्कृतिक धारा है। संघ इसी धारा को राष्ट्र की आत्मा मानता है।

संघ के अनुसार भारत की शक्ति उसकी विविधता में निहित है, किंतु यह विविधता तभी फलदायी बन सकती है, जब उसके पीछे एक साझा राष्ट्रीय चेतना मौजूद हो। यही चेतना समाज को विखंडन से बचाती है और उसे एक व्यापक राष्ट्रीय उद्देश्य से जोड़ती है।

संघ की शताब्दी यात्रा को देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि उसके कार्य का केंद्र राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना नहीं, बल्कि समाज में दीर्घकालिक परिवर्तन लाना रहा है। व्यक्ति-निर्माण, अनुशासन, संगठन और राष्ट्रीय चेतना जैसे विषय उसके कार्य के मूल आधार रहे हैं। यही आधार आगे चलकर सामाजिक समरसता, सेवा, शिक्षा, विज्ञान, इतिहास, ग्राम-विकास और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण जैसे व्यापक आयामों में विकसित हुआ।

अच्छा, यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शताब्दी यात्रा को केवल शाखाओं और स्वयंसेवकों की संख्या के आधार पर समझने का प्रयास किया जाए तो तस्वीर अधूरी रह जाएगी। संघ की विशिष्टता इस बात में है कि उसने व्यक्ति-निर्माण के अपने मूल लक्ष्य को समाज-जीवन के विविध क्षेत्रों से जोड़ने का प्रयास किया। यही कारण है कि पिछले सौ वर्षों में उसके कार्य का विस्तार शिक्षा, सेवा, विज्ञान, इतिहास, ग्राम-विकास, खेल, सहकारिता और सामाजिक समरसता जैसे अनेक क्षेत्रों तक हुआ।

संघ का स्पष्ट मानना रहा है कि राष्ट्र-निर्माण केवल राजनीतिक सत्ता परिवर्तन से संभव नहीं होता। इसके लिए समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सकारात्मक ऊर्जा, संगठन और रचनात्मक पहल की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से संघ ने समय के साथ अनेक संगठनों और मंचों को प्रेरित किया, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट कार्य किए।

संघ की दृष्टि में, भारतीय समाज की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक सामाजिक विषमता रही है। जातिगत भेदभाव, ऊँच-नीच की भावना और सामाजिक दूरी ने लंबे समय तक समाज की एकता को प्रभावित किया। संघ के विचारकों ने प्रारंभ से ही इसे राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक माना। संघ के भीतर शाखा-पद्धति का एक उद्देश्य यह भी था कि विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों से आए लोग एक साथ बैठें, खेलें और एक-दूसरे को समान भाव से देखें। संघ के कार्यक्रमों में सामाजिक पहचान के आधार पर भेद न करने की परंपरा इसी सोच का परिणाम है।

समय के साथ इस दिशा में अधिक संगठित प्रयास भी हुए। समरसता मंच जैसे उपक्रमों के माध्यम से सामाजिक सद्भाव, जातीय भेदभाव के उन्मूलन और सामाजिक संवाद को प्रोत्साहित किया गया। संघ के अनेक कार्यकर्ताओं ने विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक समरसता को बढ़ाने के लिए अभियान चलाए।

संघ की दृष्टि में समरसता केवल सामाजिक न्याय का प्रश्न नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय एकता का भी प्रश्न है। उसका तर्क है कि जब तक समाज अपने भीतर के विभाजनों से मुक्त नहीं होगा, तब तक उसकी सामूहिक शक्ति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकेगी।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संघ सामाजिक परिवर्तन को केवल कानूनों या सरकारी योजनाओं के भरोसे नहीं छोड़ता। वह इसे समाज की मानसिकता और व्यवहार में परिवर्तन से जोड़कर देखता है। इसलिए उसके साहित्य में बार-बार 'हृदय परिवर्तन' और 'सामाजिक आत्मीयता' जैसे शब्द दिखाई देते हैं।

संघ की शताब्दी यात्रा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष सेवा-कार्य है। संघ का मानना है कि राष्ट्रभक्ति केवल नारों या भावनात्मक अभिव्यक्तियों तक सीमित नहीं रहनी चाहिए; वह समाज के कमजोर और वंचित वर्गों के प्रति उत्तरदायित्व में भी दिखाई देनी चाहिए। इसी सोच से प्रेरित होकर विभिन्न क्षेत्रों में सेवा-कार्य प्रारंभ हुए। शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्राम-विकास, आपदा राहत, वनवासी क्षेत्रों का विकास, स्वावलंबन और महिला सशक्तीकरण जैसे क्षेत्रों में हजारों परियोजनाएँ संचालित की गईं।

देश ने देखा है कि प्राकृतिक आपदाओं के समय संघ के स्वयंसेवकों की सक्रियता अक्सर चर्चा में रही है। भूकंप, बाढ़, चक्रवात और महामारी जैसी परिस्थितियों में राहत और पुनर्वास कार्यों में स्वयंसेवकों ने भाग लिया। संघ के समर्थक इसे उसके संगठनात्मक अनुशासन और सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रमाण मानते हैं।

सेवा-कार्य का एक महत्त्वपूर्ण आयाम यह भी है कि संघ इसे दान या परोपकार की दृष्टि से नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में देखता है। संघ-साहित्य में बार-बार यह विचार आता है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र-परिवार का सदस्य है और उसके प्रति संवेदनशीलता स्वाभाविक कर्तव्य है।

शिक्षा के क्षेत्र में संघ की दृष्टि विशेष उल्लेखनीय है। संघ से प्रेरित संस्थाओं का मानना है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार उपलब्ध कराना नहीं, बल्कि चरित्र, संस्कार और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास भी होना चाहिए। इसी सोच के आधार पर शिक्षा संस्कृति उत्थान न्यास और अन्य शैक्षिक प्रयास सामने आए। इनका उद्देश्य शिक्षा में भारतीय दृष्टि, भारतीय भाषाओं और भारतीय ज्ञान-परंपरा को उचित स्थान दिलाना है।

संघ की दृष्टि में शिक्षा को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटकर नहीं चलना चाहिए। आधुनिक विज्ञान, तकनीक और वैश्विक ज्ञान का स्वागत करते हुए भी शिक्षा को अपने समाज, इतिहास और परंपराओं से जुड़ा रहना चाहिए।

भारतीय भाषाओं में शिक्षा का प्रश्न भी इसी संदर्भ में देखा जाता है। संघ से जुड़े अनेक विचारक यह मानते हैं कि मातृभाषा और भारतीय भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करने से ज्ञान अधिक प्रभावी ढंग से समाज तक पहुँचता है। इसी कारण भारतीय भाषाओं के उपयोग और संवर्धन पर विशेष बल दिया जाता है।

नई शिक्षा नीति-2020 के संदर्भ में भी भारतीय भाषाओं, कौशल विकास और भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रश्नों पर व्यापक चर्चा हुई, जिनमें संघ से जुड़े शिक्षाविदों ने सक्रिय भागीदारी निभाई।

संघ की विचार-यात्रा का एक रोचक पक्ष विज्ञान के प्रति उसका दृष्टिकोण है। सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि सांस्कृतिक या परंपरागत विचारधाराएँ आधुनिक विज्ञान से दूरी रखती हैं, किंतु संघ से प्रेरित विज्ञान भारती जैसे संगठनों ने एक अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

विज्ञान भारती का मूल विचार यह है कि विज्ञान और अध्यात्म परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हो सकते हैं। भारतीय परंपरा में ज्ञान की खोज को हमेशा व्यापक संदर्भ में देखा गया है। इसलिए वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक चेतना के बीच संवाद स्थापित करने का प्रयास किया गया।

विज्ञान भारती ने विज्ञान सम्मेलनों, शोध चर्चाओं, विज्ञान लोकप्रियकरण और भारतीय वैज्ञानिक परंपराओं के अध्ययन जैसे क्षेत्रों में कार्य किया। आयुर्वेद, पर्यावरण, जैव विविधता, ग्रामीण तकनीक और स्वदेशी अनुसंधान जैसे विषय उसके प्रमुख कार्यक्षेत्र रहे हैं।

संघ की दृष्टि में विकसित भारत का निर्माण केवल आर्थिक वृद्धि से नहीं होगा; इसके लिए विज्ञान, तकनीक और नवाचार को समाज की वास्तविक आवश्यकताओं से जोड़ना भी आवश्यक है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी राष्ट्र की पहचान केवल उसके वर्तमान से नहीं बनती; उसके पीछे उसकी ऐतिहासिक स्मृति भी होती है। संघ के अनेक विचारकों का मानना रहा है कि भारत के इतिहास-लेखन में कई महत्त्वपूर्ण आयामों की उपेक्षा हुई है। इसी सोच के आधार पर इतिहास के पुनर्पाठ और भारतीय दृष्टि से इतिहास-लेखन पर बल दिया गया। उद्देश्य यह रहा कि इतिहास को केवल शासकों और युद्धों की कहानी के रूप में न देखा जाए, बल्कि समाज, संस्कृति, विज्ञान, लोक-परंपराओं और राष्ट्रीय चेतना के विकास के रूप में भी समझा जाए।

संघ से प्रेरित इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के अनेक उपेक्षित पक्षों पर कार्य किया। विशेष रूप से स्थानीय नायकों, जनजातीय प्रतिरोध, सांस्कृतिक आंदोलनों और भारतीय ज्ञान परंपरा से जुड़े विषयों पर नए शोध हुए। अच्छा, यह प्रयास विवादों से भी मुक्त नहीं रहा। इतिहास-लेखन के क्षेत्र में विभिन्न दृष्टिकोणों के बीच मतभेद स्वाभाविक हैं। फिर भी यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास और राष्ट्रीय स्मृति का प्रश्न संघ की वैचारिक चिंताओं का एक प्रमुख विषय रहा है।

1964 में स्थापित विश्व हिंदू परिषद संघ की प्रेरणा से प्रारंभ हुई एक महत्त्वपूर्ण पहल मानी जाती है। इसका उद्देश्य विश्वभर में फैले हिंदू समाज को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्तर पर जोड़ना था।

विभिन्न परंपराओं, संप्रदायों और धार्मिक धाराओं के बीच संवाद स्थापित करना इसका प्रमुख लक्ष्य रहा। इसके माध्यम से भारतीय मूल के लोगों के साथ वैश्विक स्तर पर संपर्क और सांस्कृतिक संबंधों को भी मजबूत करने का प्रयास किया गया।

विश्व हिंदू परिषद के समर्थक इसे सांस्कृतिक एकता का मंच मानते हैं, जबकि इसके कुछ कार्यक्रमों को लेकर सार्वजनिक बहसें भी होती रही हैं। फिर भी संगठनात्मक दृष्टि से यह संघ परिवार के सबसे प्रभावशाली संगठनों में से एक माना जाता है।

संघ की प्रेरणा से विकसित 'क्रीड़ा भारती' और 'सहकार भारती' जैसे संगठनों से उसकी व्यापक सामाजिक दृष्टि का परिचय मिलता है।

क्रीड़ा भारती खेल को केवल प्रतियोगिता नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण, अनुशासन और राष्ट्रीय चेतना का माध्यम मानती है। भारतीय पारंपरिक खेलों के संरक्षण और खेल संस्कृति के विस्तार पर उसका विशेष बल रहा है। वहीं सहकार भारती आर्थिक विकास के भारतीय मॉडल की चर्चा करती है। उसका मानना है कि अर्थव्यवस्था केवल राज्य या बाजार के भरोसे नहीं छोड़ी जा सकती। समाज-आधारित सहकारिता आर्थिक सशक्तीकरण का प्रभावी माध्यम बन सकती है।

इन प्रयासों से यह स्पष्ट होता है कि संघ की दृष्टि केवल राजनीतिक या सांस्कृतिक प्रश्नों तक सीमित नहीं है। वह समाज के संगठन और विकास को बहुआयामी प्रक्रिया के रूप में देखता है।

इस प्रकार संघ की शताब्दी यात्रा का दूसरा पक्ष व्यक्ति-निर्माण से आगे बढ़कर समाज-निर्माण का है। सामाजिक समरसता, सेवा, शिक्षा, विज्ञान, इतिहास, खेल और सहकारिता जैसे क्षेत्रों में सक्रियता ने उसे एक व्यापक सामाजिक प्रवाह का स्वरूप दिया है। यही वह आधार है जिसके कारण संघ का प्रभाव केवल शाखाओं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि समाज के विविध क्षेत्रों में दिखाई देता है।

विदित है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मूल लक्ष्य केवल एक संगठन का विस्तार नहीं रहा है। उसके संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार और बाद के विचारकों ने बार-बार इस बात पर बल दिया कि भारत का पुनर्निर्माण केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से पूरा नहीं होगा। राजनीतिक स्वाधीनता आवश्यक है, किंतु उसके साथ सांस्कृतिक आत्मविश्वास, सामाजिक एकता, नैतिक चरित्र

और राष्ट्रीय चेतना का विकास भी उतना ही आवश्यक है।

संघ की दृष्टि में राष्ट्र कोई यांत्रिक या केवल संवैधानिक संरचना नहीं है। वह एक जीवंत सांस्कृतिक सत्ता है, जिसका निर्माण हजारों वर्षों के इतिहास, परंपराओं, मूल्यों और सामूहिक अनुभवों से हुआ है। इसलिए राष्ट्र-निर्माण का अर्थ केवल सड़कों, भवनों और उद्योगों का निर्माण नहीं, बल्कि ऐसे नागरिकों का निर्माण भी है जो राष्ट्रहित को व्यक्तिगत हित से ऊपर रख सकें।

संघ के साहित्य में बार-बार यह विचार आता है कि भारत का पुनरुत्थान तभी संभव है जब समाज आत्महीनता से मुक्त होकर अपनी सभ्यतागत शक्ति को पहचाने। औपनिवेशिक शासन ने केवल राजनीतिक प्रभुत्व ही स्थापित नहीं किया था, उसने भारतीय समाज के आत्मविश्वास को भी प्रभावित किया था। इसलिए आत्मगौरव और आत्मबोध संघ की विचारधारा के केंद्रीय तत्व बन गए।

संघ के विचार को समझने के लिए 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की अवधारणा को भी समझना आवश्यक है। संघ के अनुसार भारत की राष्ट्रीय पहचान का आधार केवल राजनीतिक सीमाएँ नहीं हैं, बल्कि वह साझा सांस्कृतिक चेतना है जिसने इस भूभाग को हजारों वर्षों से जोड़े रखा है। संघ यह मानता है कि भारत की विविध भाषाएँ, क्षेत्रीय परंपराएँ, पंथ और जीवन-शैलियाँ परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक व्यापक सांस्कृतिक धारा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इस दृष्टि में विविधता और एकता दोनों साथ-साथ चलते हैं।

विचार करने पर हम पाते हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भारत की ऐतिहासिक वास्तविकता का स्वाभाविक प्रतिरूप है। हालाँकि, आलोचक कभी-कभी आशंका व्यक्त करते हैं कि सांस्कृतिक पहचान पर अत्यधिक बल देने से बहुलतावाद प्रभावित हो सकता है। यही कारण है कि यह अवधारणा भारतीय बौद्धिक और राजनीतिक विमर्श में लंबे समय से चर्चा और बहस का विषय रही है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद संघ की वैचारिक संरचना का सबसे महत्त्वपूर्ण स्तंभ है और उसके अधिकांश कार्यक्रमों तथा अभियानों की पृष्ठभूमि में यही दृष्टि कार्य करती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संघ की यात्रा सरल नहीं रही। अनेक अवसर ऐसे आए जब उसे कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। महात्मा गांधी की हत्या के बाद 1948 में संघ पर प्रतिबंध लगाया गया। यद्यपि बाद में न्यायिक और प्रशासनिक प्रक्रियाओं के पश्चात प्रतिबंध हटा लिया गया, किंतु इस घटना ने संघ के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ का कार्य किया।

इसके बाद 1975 में घोषित आपातकाल भी संघ के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। आपातकाल के दौरान संघ सहित अनेक संगठनों पर प्रतिबंध लगाए गए और बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों को गिरफ्तार किया गया। संघ इस कालखंड को लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा के संघर्ष के रूप में देखता है।

स्वतंत्र भारत के विभिन्न संकटों—युद्धों, प्राकृतिक आपदाओं, सामाजिक चुनौतियों और राष्ट्रीय अभियानों—में भी स्वयंसेवकों की भागीदारी का उल्लेख संघ के साहित्य में मिलता है। समर्थक इसे राष्ट्रहित के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का प्रमाण मानते हैं।

यद्यपि संघ स्वयं को सांस्कृतिक संगठन कहता है, फिर भी भारतीय राजनीति से उसका संबंध निरंतर चर्चा का विषय रहा है। संघ का कहना है कि उसका कार्य समाज-संगठन और व्यक्ति-निर्माण है, न कि प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधि।

हालाँकि संघ की प्रेरणा से विभिन्न कालखंडों में राजनीतिक कार्यकर्ताओं का एक बड़ा वर्ग तैयार हुआ। स्वतंत्र भारत में अनेक राजनीतिक नेताओं का वैचारिक और संगठनात्मक प्रशिक्षण संघ की पृष्ठभूमि में हुआ। इस कारण संघ का प्रभाव भारतीय राजनीति की चर्चा में अक्सर दिखाई देता है। समर्थकों का मानना है कि यह प्रभाव समाज में उसकी स्वीकार्यता और संगठनात्मक क्षमता का परिणाम है। वहीं आलोचक इसे संघ की अप्रत्यक्ष राजनीतिक भूमिका के रूप में देखते हैं।

वास्तविकता यह है कि संघ और राजनीति के संबंध को समझने के लिए उसके घोषित उद्देश्यों और उसके सामाजिक प्रभाव—दोनों को साथ देखकर ही संतुलित निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

किसी भी बड़े सामाजिक संगठन की तरह संघ भी आलोचनाओं और विवादों से अछूता नहीं रहा है। उसकी शताब्दी यात्रा में अनेक अवसर ऐसे आए जब उसके विचारों, कार्यक्रमों और दृष्टिकोणों पर गंभीर बहसें हुईं।

आलोचकों का एक वर्ग संघ पर बहुसंख्यकवादी दृष्टिकोण अपनाने का आरोप लगाता है। कुछ लोग उसकी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को लेकर प्रश्न उठाते हैं। वहीं कुछ आलोचनाएँ उसके इतिहास-बोध, शिक्षा संबंधी विचारों अथवा सामाजिक प्रश्नों के प्रति उसके दृष्टिकोण को लेकर भी सामने आती रही हैं।

दूसरी ओर संघ और उसके समर्थकों का कहना है कि उसकी विचारधारा का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक आत्मविश्वास को मजबूत करना है। उनका तर्क है कि संघ के कार्यों को उसके व्यापक सामाजिक योगदान और सेवा-कार्यों के संदर्भ में भी देखा जाना चाहिए।

लोकतांत्रिक समाज में किसी भी बड़े संगठन के संबंध में मतभेद और बहसें स्वाभाविक हैं। वास्तव में, किसी विचार की प्रासंगिकता का एक संकेत यह भी होता है कि वह व्यापक सार्वजनिक विमर्श का विषय बने। संघ के साथ भी यही स्थिति रही है।

संघ की शताब्दी यात्रा ऐसे समय में पूरी हो रही है जब भारत तीव्र परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। डिजिटल क्रांति, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, शहरीकरण, वैश्वीकरण, पर्यावरणीय संकट, परिवार संरचना में बदलाव और नई पीढ़ी की आकांक्षाएँ—ये सभी नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रही हैं।

आज का युवा केवल परंपरा की भाषा नहीं समझता; वह तर्क, अवसर, नवाचार और वैश्विक प्रतिस्पर्धा की भाषा भी समझता है। इसलिए संघ के सामने चुनौती यह है कि वह अपने मूल विचारों को बनाए रखते हुए नई पीढ़ी से प्रभावी संवाद स्थापित करे। इसी प्रकार सामाजिक समरसता, महिला भागीदारी, पर्यावरण संरक्षण, तकनीकी नवाचार और ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था जैसे क्षेत्रों में भी उसे नए उत्तर विकसित करने होंगे।

शताब्दी वर्ष में संघ के सामने सबसे बड़ा प्रश्न शायद यही है कि वह अपनी परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन कैसे स्थापित करता है। हम जानते हैं कि भारत 2047 में स्वतंत्रता के 100 वर्ष पूरे करेगा। आज देश में विकसित भारत की जो चर्चा चल रही है, उसमें संघ भी सक्रिय रूप से भागीदार दिखाई देता है।

संघ की दृष्टि में विकसित भारत केवल आर्थिक रूप से समृद्ध राष्ट्र नहीं होगा। उसके अनुसार ऐसा भारत आत्मनिर्भर, सांस्कृतिक रूप से आत्मविश्वासी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संपन्न, सामाजिक रूप से समरस और नैतिक रूप से सशक्त होना चाहिए।

इसी कारण संघ के अनेक उपक्रम शिक्षा, कौशल विकास, ग्रामोदय, पर्यावरण, स्वदेशी उद्यम, सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक जागरण जैसे विषयों पर कार्य कर रहे हैं।

संघ का विश्वास है कि भारत का विकास मॉडल केवल पश्चिमी प्रतिमानों की नकल पर आधारित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं के अनुरूप विकसित होना चाहिए।

शताब्दी वर्ष का समग्र मूल्यांकन

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शताब्दी यात्रा भारतीय समाज के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। एक छोटे से संगठन के रूप में 1925 में प्रारंभ हुई यह यात्रा आज विश्व के सबसे बड़े स्वयंसेवी संगठनों में से एक के रूप में देखी जाती है।

इस सौ वर्ष की यात्रा में संघ ने व्यक्ति-निर्माण, सामाजिक संगठन, सेवा-कार्य, शिक्षा, समरसता, विज्ञान, इतिहास और सांस्कृतिक चेतना जैसे अनेक क्षेत्रों में प्रभाव छोड़ा है। उसके समर्थकों की दृष्टि में यह एक राष्ट्रीय पुनर्जागरण का आंदोलन है। उसके आलोचक उससे असहमत हो सकते हैं, किंतु उसके प्रभाव और उपस्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

किसी भी बड़े संगठन का मूल्यांकन केवल उसके समर्थकों या विरोधियों की दृष्टि से नहीं किया जा सकता। उसके लिए आवश्यक है कि उसके विचारों, कार्यों, उपलब्धियों, सीमाओं और चुनौतियों—सभी को समग्रता में देखा जाए।

शताब्दी वर्ष में संघ की सबसे बड़ी उपलब्धि शायद उसकी संगठनात्मक निरंतरता है। सौ वर्षों में अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए, अनेक विचारधाराएँ आईं और चली गईं, किंतु संघ निरंतर विस्तार करता रहा। इसका कारण केवल संगठनात्मक अनुशासन नहीं, बल्कि वह विचार है जिसने लाखों स्वयंसेवकों को समाज और राष्ट्र के लिए कार्य करने की प्रेरणा दी।

अंततः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शताब्दी केवल एक संगठन की आयु का उत्सव नहीं है। यह उस विचार-यात्रा का अवसर भी है जिसने व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से मानवता तक अपनी दृष्टि का विस्तार करने का प्रयास किया। आने वाले वर्षों में इस यात्रा का मूल्यांकन इतिहास करेगा, किंतु इतना निश्चित है कि आधुनिक भारत की कथा संघ का उल्लेख किए बिना पूर्ण नहीं हो सकती। ■

(लेखक अखिल भारतीय साहित्य परिषद के अध्यक्ष हैं।)

हिंदुत्व : वास्तविकता एवं भ्रांति

प्रणय कुमार

हिंदुत्व का दूसरा नाम सनातन संस्कृति या सनातन धर्म है। सनातन का अभिप्राय ही यह है कि जो काल की कसौटी पर सदैव खरा उतरे, जो कभी पुराना न पड़े, जिसमें काल-प्रवाह में आया असत्य प्रक्षालित होकर तलछट में पहुँचता जाय और सत्य सतत प्रवहमान रहे। फिर यह भ्रांति कब, कैसे और क्यों उत्पन्न हुई? उन भ्रांतियों के क्या कारण रहे? इसे जानने के लिए हमें अतीत में झाँकना पड़ेगा।

हिंदू-समाज विगत 1000 से अधिक वर्षों से विदेशी-विधर्मी आक्रांताओं से जूझता रहा है। प्रचारित यह किया जाता रहा कि हम सतत गुलाम रहे, जबकि सच्चाई यह है कि हम संघर्षशील रहे। कभी हारे, कभी जीते, पर हमने कभी आत्मसमर्पण नहीं किया। हम झुके, टूटे, पर मिटे नहीं और जब भी हमें अवसर मिला हमने इन विदेशी-विधर्मी ताकतों को जड़-मूल समेत उखाड़ फेंकने में कोई कोर-कसर बाक़ी नहीं रखी। देश का कोई ऐसा भूभाग, कोई ऐसा प्रांत नहीं, जहाँ इन आक्रांताओं को प्रतिकार और प्रतिरोध न झेलना पड़ा हो। यही कारण रहा कि इस्लाम की आँधी के आगे केवल हम, जी हाँ, केवल हम हिंदू अपनी अस्मिता, अपनी संस्कृति, अपने जीवन-मूल्यों की रक्षा कर पाए। लड़े और क्या खूब लड़े! हम हिंदुओं ने अपनी धर्म-संस्कृति की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा दी।

विश्व-कल्याण के लिए सभ्यता का यह वैचारिक संघर्ष आज भी सतत ज़ारी है। हाँ, स्वतंत्र भारत में वह थोड़ा दुर्बल अवश्य पड़ा है; क्योंकि स्वतंत्रता के पश्चात् देश की सत्ता जिन हाथों और कालांतर में जिस वंश के हाथों में आई, वे पश्चिमी रंग में रंगे थे। उनमें अंग्रेजियत का भाव कूट-कूटकर भरा था। वे स्वयं को दुर्घटनावश हिंदू मानते थे। उन्हें भारत के मूल स्वरूप एवं स्व की समझ और पहचान नहीं थी। और कोढ़ में खाज का काम वामपंथियों एवं क्षद्म सेकुलरिस्टों ने किया। उन्होंने मधुवेष्टित (सुगरकोटेड) तरीकों से बड़ी योजना एवं कुटिलतापूर्वक युवा पीढ़ी को देश की जड़ों-संस्कारों-मूल्यों से काट दिया। उनमें शत्रु-मित्र की समझ, सम्यक्-संतुलित इतिहास बोध ही नहीं विकसित होने दिया। उन्हें एक निश्चित दिशा में सोचने के लिए षड्यंत्र पूर्वक अनुकूलित कर दिया। वे भारतीय ज्ञान-परंपरा यानी हिंदू ज्ञान-परंपरा को संशय या हीनता की दृष्टि से देखने लगे। उन्हें समझाया गया कि जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वरेण्य है, सब पश्चिम का दिया हुआ है। हम तो साँप के आगे बीन बजाने वाले, पेड़ों के इर्द-गिर्द नाचने वाले, पत्थरों-पर्वतों-नदियों की पूजा करने वाले पिछड़े और प्रतिगामी समाज हैं। इन सबके पीछे के वैज्ञानिक-व्यावहारिक पक्ष को जान-बूझकर हमसे छुपाया गया। भ्रांति का मूल कारण स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की यही परकीय, परावलंबी, परमुखापेक्षी एवं स्वाभिमान-शून्य दृष्टि है, दुर्भाग्य से इन्हें आज भी पल्लवित-पोषित किया जा रहा है। यदि इस अज्ञान को दूर कर दिया जाय और स्व, स्वत्व एवं सनातन सत्य का बोध करा दिया जाय तो सब प्रकार की भ्रांतियाँ स्वतः दूर हो जाएँगीं। अज्ञान भ्रम का कारण और ज्ञान ही निवारण है।

प्रश्न उठता है कि फिर हिंदुत्व क्या है? हिंदुत्व संपूर्ण सृष्टि में एक ही सत्य, एक ही परम तत्त्व, चैतन्य सत्ता को देखने की जीवन-दृष्टि, उससे अधिक जीवन-पद्धत्ति है। हिंदुत्व ने मनुष्य और संपूर्ण विश्व-ब्रह्मांड का चिंतन समग्रता से किया है। उसने मनुष्य को केवल शरीर, मन, बुद्धि तक सीमित नहीं माना, बल्कि उसने उससे आगे उसकी आत्मिक सत्ता की खोज की। व्यष्टि से समष्टि तक उस आत्मिक सत्ता का विस्तार ही हम हिंदुओं का अंतिम लक्ष्य है। हिंदू-चिंतन के अनुसार हर व्यक्ति - परिवार, कुल-वंश-समुदाय(बिरादरी), समाज, राष्ट्र, विश्व, ब्रह्मांड के साथ अंगागी भाव से जुड़ा है। उसका आपस में अंतःसंबंध है। उस अंतःसंबंध का अनुसंधान और तत्पश्चात आत्म-साक्षात्कार ही हमारी दृष्टि में मोक्ष या अंतिम सत्य है। हम संपूर्ण चराचर में व्याप्त उस एकत्व को प्राप्त एवं आत्मसात करना चाहते हैं। हिंदू जीवनदृष्टि मानती है कि आत्मा-परमात्मा एक है। अज्ञान और अहंकार के कारण दोनों की दो सत्ताएँ प्रतीत होती हैं, जिसे हमने माया कहा है।

आत्मा-परमात्मा का चिंतन करते हुए हमारे ऋषि-मुनियों ने व्याख्या दी- "आत्मा- सच्चिदानंदमय रूप है, वह निराकार, निर्विकार, निरंहकार, अनादि और अनंत है और परमात्मा भी सच्चिदानंदमय रूप, निराकार, निर्विकार, निरंहकार, अनादि और अनंत है।" चूँकि दो अनंत नहीं हो सकते, इसलिए दोनों एक हैं। गणितीय सूत्र के अनुसार अनंत को अनंत से जोड़ने, घटाने, गुना करने या भाग देने पर परिणाम अनंत ही निकलता है। यानी हमने जीवात्मा को परमात्मा का अंश माना। और हम यहीं नहीं रुके, बल्कि हमने जड़-चेतन सबमें एक ही सत्य, एक ही ऊर्जा, एक ही ईश्वर के दर्शन किए। दोनों के तदरूप हो जाने की संकल्पना की। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'यत्र पिंडे, तत् ब्रह्माण्डे', 'आत्मवत सर्वभूतेषु' हमारे महावाक्य व जीवन-मंत्र रहे। हमने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का लक्ष्य रखा। हमने धर्म को नींव माना, पर अर्थ और काम की उपेक्षा नहीं की, बल्कि इनसे गुज़रने के बाद ही कोई हिंदू मोक्ष का सुपात्र बनता है। वहीं बाइबिल ने तो मनुष्य को 'पाप की उपज' माना। ओल्ड टेस्टामेंट में वर्णन मिलता है " मैन इज बोर्न ऑउट ऑफ सिन (Man is born out of sin).' पर हम मनुष्य को पाप की संतान नहीं मानते। जो हमको वैज्ञानिकता का पाठ पढ़ाते हैं, कभी अपने गिरेबान में झाँककर क्यों नहीं देखते! हमारी तो मान्यता है- 'वयं अमृतस्य पुत्राः।' हम अमृत-पुत्र यानी ईश्वर की संतान हैं, उनके अंश हैं, शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य सत्ता हैं। विस्तारवादी-वर्चस्ववादी इस्लाम तो सुख की सारी कल्पना ही मनुष्य के मरने के बाद की करता है। उसके लिए यह धरा स्वर्ग नहीं है। बल्कि वह तो अपने मन-मस्तिष्क में एक वायवीय-काल्पनिक जन्नत की अवधारणा और स्वप्न लिए किसी और जीवन के लिए अपने लौकिक जीवन को चिढ़ते-कुढ़ते हुए व्यतीत कर देता है। ईसाइयत का 'गॉड' या इस्लाम का 'अल्लाह' सातवें आसमान पर रहता है, वह कभी धरती पर नहीं उतरता। उसका स्वरूप हमारे 'ईश्वर'

से भिन्न है। यदि वहाँ कोई स्वयं को ईश्वर का अंश बता दे या नर और नारायण को समान धरातल पर रखे तो उस पर ईश-निंदा का दंड लगाया जाएगा। उसकी सजा मृत्युदंड है। वहीं हमने 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' की सार्वजनिक घोषणा की। हम नर से नारायण तक की ऊँचाई तक पहुँचने का ध्येय लेकर जीवन-यात्रा का आरंभ करते हैं। हमारी चिंतन-परंपरा में ईश्वर भी मानव-रूप में अवतरित होते हैं और उसे अपना सौभाग्य समझते हैं। विष्णुपुराण में कहा गया,

''गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे,
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात।''

"हमारे देवता भी यह गान करते हैं कि "धन्य हैं वे लोग, जो भारत-भूमि पर उत्पन्न हुए। यह भूमि स्वर्ग से बढ़कर है, यहाँ स्वर्ग छोड़ मोक्ष की साधना की जा सकती है।"

धर्म की हमारी अवधारणा भी किसी विशेष पूजा या उपासना पद्धत्ति तक सीमित नहीं है। बल्कि पूजा या उपासना पद्धत्ति हमारे लिए अपने चित्त या आत्मा को शांत-शुद्ध-एकाग्र करने व रखने के माध्यम हैं। उस चैतन्य की अनुभूति करने के अनेक उपायों में से एक हैं। हमारे लिए धर्म करणीय-अकरणीय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का सतत बोध कराने वाला अधिष्ठान है, आधार है। हमने धर्म को कर्त्तव्य का वाचक माना, जो धारण करने योग्य है वह धर्म है- 'धारयति इति धर्मः।' हमारे यहाँ राजा का धर्म, प्रजा का धर्म, पिता का धर्म, पुत्र का धर्म, पति का धर्म, पत्नी का धर्म आदि शब्द-प्रयोग कर्त्तव्य के अर्थ में ही किए जाते हैं। बल्कि इन अर्थों में धर्म केवल हिंदू या सनातन है। शेष पंथ, मज़हब, रिलीजन या संप्रदाय हैं। मज़हब या रिलीजन एक पंथ, एक ग्रंथ, एक प्रतीक, एक पैगंबर से इतर किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ईसाइयत ने तो समय के साथ अपनी व्यावहारिक सोच में कुछ बदलाव भी किया, पर इस्लाम में तो आज भी सारा चिंतन, सारा ज्ञान युग विशेष तक सिमटकर रह गया है। उन्हें उस सीमा तक ही सोचने की आज़ादी है, जहाँ तक वे "एक क़िताब" में लिखी बात को सही साबित कर सकें। आप कल्पना कीजिए कि आज के उदार एवं प्रगत दौर में भी उनके मौलवी सरेआम यह घोषणा करते पाए जाते हैं कि धरती चपटी है, वह स्थिर है, सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। और उससे घोर आश्चर्य कि उनके अनुयायी उन्हें सुनते और मानते हैं। वहीं हिंदुत्व किसी एक ग्रंथ या पंथ के लिए बाध्य नहीं करता। वह काल-विशेष में प्रचलित रूढ़ियों के शव को चिपकाए नहीं रखता। वह युग की कसौटी पर सत्य को कसता रहता है। वह अपने आराध्य अवतारों के निर्णयों और जीवन के घटनाक्रमों का भी निःसंकोच आकलन-विश्लेषण करता है। उसका ईश्वर सर्वव्यापी है। वह एक है, पर नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है। हिंदूओं के अनुष्ठान के जयघोष हैं - "धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो!" क्या इसमें क्षुद्रता, संकीर्णता, संकुचितता का लवलेश-मात्र है? वस्तुतः हिंदू-दर्शन वैश्विक दर्शन है। वह मानव-धर्म है। उसका "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' का उद्घोष हिंसा, कलह एवं आतंक से पीड़ित विश्व-मानवता के लिए वरदान एवं संकटों से मुक्ति का त्राण है।

रेने देकार्त्त, मार्क्स, फ्रायड, डार्विन, न्यूटन प्रणीत विज्ञान एवं चिंतन ने मनुष्य का खंड-खंड चिंतन किया। इन सबने मनुष्य को प्रकृति का अंग न मानकर स्वामी माना। और बाइबिल ने भी कहा कि यह पूरी धरती तुम्हारे उपभोग के लिए है, इस्लाम ने तो उससे आगे माले-ग़नीमत को आपस में बाँट लेने की अतिरंजित, आक्रामक एवं वर्चस्ववादी धारणा व सोच दी, कुल मिलाकर उन्होंने मनुष्य को विस्तार देने की बजाय वाद या मज़हब-रिलीज़न के संकुचित दायरे में आबद्ध कर दिया। जबकि हिंदुत्व ने मनुष्य को इस विश्व-ब्रह्मांड का स्वामी न मानकर एक घटक माना। उसने विश्व-ब्रह्मांड से बाहर उसकी कोई स्वतंत्र-इतर सत्ता नहीं स्वीकार की। उसने मनुष्य को वाद या पंथ के सीमित दायरे में बाँधने की बजाय उसकी मुक्ति के मार्ग ढूंढ़े। उसके विस्तार के रास्ते सुझाए। मार्क्स कहता है 'कमाने वाला खाएगा, जबकि हिंदुत्व कहता है जो जन्मा है सो खाएगा, जो कमाएगा सो खिलाएगा। उसने जीवन दिया है तो वही भोजन भी देगा। हमारा सामान्य मानवी भी कहता है - 'सबै भूमि गोपाल की।' खुद कमाना और खुद खाना यह तो प्रकृति है। दूसरों का छीनकर खाना विकृति है और खुद कमाना और अपने लिए सबसे कम रखकर उसे सबमें बाँट देना यही संस्कृति है।" इसीलिए हमारे उपनिषदों में अखिल ब्रह्मांड को ईश्वर की संपत्ति मानकर उसके त्यागयुक्त उपभोग की सीख देते हुए कहा गया–

''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥''

कार्ल मार्क्स ने मनुष्य को केवल देह और भूख से जोड़कर देखा, देकार्त्त ने बुद्धि से और फ्रायड ने मन से। वे आत्मा की सत्ता तक नहीं पहुँच पाए। मार्क्स के अनुसार मनुष्य के सभी कर्मों के मूल में अर्थोपार्जन है, रोटी की चिंता है तो क्या महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद, सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, नेताजी सुभाषचंद्र बोस जैसे तमाम मनीषियों-महापुरुषों के कार्यों की प्रेरणा के मूल में रोटी की चिंता थी, अर्थोपार्जन की भावना थी? ऐसा सोचना भी कितना अन्यायपूर्ण होगा?

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि पश्चिमी जगत व हिंदूतर-दर्शन व चिंतन के मूल में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष', 'शक्तिशाली का ही अस्तित्व', 'प्रकृति का शोषण' और 'वैयक्तिक अधिकार' ही सर्वोपरि है। जबकि हिंदू दर्शन के अनुसार अस्तित्व के लिए संघर्ष से अधिक सहयोग और समन्वय की आवश्यकता है। भारत की सनातन संस्कृति सर्वत्र सहयोग एवं सामंजस्य देखती आई है। सृष्टि के अणु-रेणु में एक ही परम ब्रह्म परमात्मा या चेतना के दर्शन करती आई है। उनका मानना है कि संपूर्ण जगत में जो संघर्ष एवं कोलाहल दिखाई देता है, वह मनुष्य की भेद-बुद्धि का परिणाम है। उनके अनुसार हिंदू जीवन-दृष्टि केवल शक्तिशाली के अस्तित्व-रक्षा में नहीं, अपितु सबके अस्तित्व की रक्षा में जीवन और जगत का कल्याण देखती है। इसीलिए यहाँ के चिंतन में सबसे पूर्व बाल-वृद्ध-विकलांग, अशक्त एवं दुर्बल की चिंता की गई है, न कि शक्तिशाली की। यहाँ प्रकृति को दासी या भोग्या नहीं, अपितु जीवन प्रदायिनी शक्ति या पालन-पोषण करने वाली जननी माना गया है। प्रकृति को भोग्या या दासी मानने के दुष्परिणाम आज हमारे सम्मुख हैं। तरह-तरह की संक्रामक महामारी एवं विध्वंसक प्रदूषण आज संपूर्ण विश्व को निगलने को तैयार हैं। और वैयक्तिक अधिकार से पूर्व भारत वर्ष में कर्त्तव्यों के पालन की परंपरा रही है। हमने माना कि एक के कर्त्तव्य-पालन में ही दूसरे का अधिकार संरक्षित होता है। व्यक्ति परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, बदले में परिवार उसके अधिकारों की रक्षा करता है। परिवार समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, बदले में समाज उसके अधिकारों की रक्षा करता है। समाज राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, बदले में राष्ट्र उसके अधिकारों की रक्षा करता है और राष्ट्र विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, बदले में विश्व उसके अधिकारों की रक्षा करता है। इस प्रकार व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से परमेष्टि तक संपूर्ण मानव-समाज अन्योन्याश्रित एवं अंगागी भाव से एक-दूसरे से जुड़ा है। कोई किसी से विलग नहीं, कोई किसी से निरपेक्ष, स्वयंभू या पृथक नहीं। संपूर्ण चराचर में व्याप्त उस एक ही सत्य या परम तत्त्व को पाने और देखने की दृष्टि का ही दूसरा नाम हिंदुत्व या सनातन जीवन-दर्शन है। इसलिए यह केवल हिंदुओं के लिए ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व-समाज के लिए कल्याणकारी है। यदि हमने हिंदुत्व के इस सत्य को गहराई से जान लिया तो सारा भ्रम, सारा संशय अपने-आप ही जाता रहेगा। ■

शिक्षाविद एवं वरिष्ठ स्तंभकार
9588225950

संघ कार्य में गीतों की प्रासंगिकता

लक्ष्मीनारायण भाला "लक्खीदा"

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दैनिक शाखाओं में गाये जाने वाले गीत किसने लिखे हैं और उन्हें किसने स्वरबद्ध किया है आदि बातें किसी को बतायी नहीं जाती। इन गीतों की रचना के मूल में जो भाव होता है, वह पूर्णतः समर्पण का ही होने के कारण रचनाकार भी इसे अपनी ओर से किए हुए समर्पण के रूप में ही देखता है। अपनी रचना संगठन के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई है, यही उनके लिए संतोष की बात होती है। रचनाकार और संगीतकार इन दोनों के विषय में जो जानना चाहते हो उन्हें गहरी खोजबीन करनी पड़ती है। केवल हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं में भी जिन संघ गीतों की रचना हुई है, उनके बारे में भी यही सिद्धांत लागू होता है। स्वयंसेवकों में समर्पण की भावना बनाए रखने और जगाते रहने का सहज, सरल, सशक्त एवं उपयुक्त माध्यम है– संघ की शाखाओं में गाये जाने वाले गीत। ऐसे ही एक गीत के सहारे मैं अपनी बात को आगे बढ़ाना चाहता हूं।

विगत कई दशकों से एक गीत संघ शाखाओं में गाया जाता है। यह कल-कल, छल-छल बहती, क्या कहती गंगा धारा? गीत के माध्यम से उठाए हुए इस प्रश्न के द्वारा कवि ने केवल प्रकृति की ही नहीं, तो विभिन्न प्राणियों की आवाज के रहस्य को जानने की जिज्ञासा मेरे मन में जगा दी। यह बात तो हम सभी जानते हैं कि अपनी भावना प्रकट करने के लिए बोलने तथा लिखने की कला प्राणियों में केवल मानव को ही प्राप्त है। ईश्वर प्रदत्त इस प्रतिभा के बल पर ही मानव ने आवाज अर्थात् ध्वनि के नामकरण किए। बादलों का गरजना, बिजली का कड़कना, कोयल का कूकना, मोर का कुहकना, चिड़िया का चहकना, हाथी का चिंघाड़ना, घोड़े का हिनहिनाना, शेर का दहाड़ना, गधे का रेंकना, बंदर का चीखना, कुत्ते का भौंकना, भैस का रंभाना, बकरी का मिमियाना आदि के साथ मुरगे की बांग, कबूतर की गुटर-गूं और बिल्ली की म्याऊं-म्याऊं से ध्वनि की विविधता को मानव ने स्पष्ट किया।

तोता जब मनुष्य के मुख से बजने वाली सीटी, बोली आदि आवाजों की नकल करने लगा, तो मनुष्य ने लकड़ी के दो टुकड़ों के टकराने से निकली आवाज के सहारे नए-नए वाद्ययंत्रों का अविष्कार किया। हवा के गुंजन से बनी ध्वनि के साथ तालमेल बैठाकर शब्दों को लय और ताल में गाने की संगीत कला का अविष्कार किया। यह कला ही मानव मन को सर्वाधिक आनंद और सुख देती है। समाज जीवन के हर प्रसंग पर इस कला का उपयोग स्वाभाविक प्रक्रिया बन गयी। लोक कला का आधार भी लोकगीत ही है।

संगठन शास्त्र के क्रियान्वयन के लिए भी यह एक उपयोगी उपकरण सिद्ध हुआ। अतः प्रतिदिन की संघ शाखा में गीत का गायन अनिवार्य किया गया। लय और तालबद्ध गीत स्वयंसेवक के मन में अपने लक्ष्य एवं ध्येय के प्रति प्रतिबद्धता निर्माण करते हैं। अपने दायित्व के प्रति निष्ठावान बनाकर समर्पण की भावना जगाने वाले गीत उनके प्रेरणास्रोत बन जाते है। संगठन की नींव को मजबूत करने के लिए गीत के सहारे ही संगठन शास्त्र चालिसा को भी स्वरबद्ध किया गया। यह रचना भी निश्चित ही सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। आइए, कुल चालीस कड़ियों में समाहित संगठन शास्त्र चालिसा की पांच कड़ियों को गुनगुनाते हुए हम आनंद, प्रेरणा और समर्पण के त्रिवेणी संगम में गोता लगाएं।

"नित्य के संस्कार के हित,सामूहिक मिल-मेल नियमित।
शुद्ध मन से राष्ट्र चिंतन, गीत के गुंजार॥११॥
मुक्त मन से खेल खेलें, भेद के सब बंध खोलें।
पुलकयुत वातावरण का, हो सदा संचार॥१२॥
प्रथम पद एकत्र होना, मनन-चिंतन साथ करना।
पग मिलाकर साथ चलना, क्रम यही क्रमवार॥१३॥
नित्य-नियमित क्रम यही हो, आपसी विश्वास भी हो।
एक दूजे के अहं का, हो उचित उपचार॥१४॥
कोई दुर्बल, सबल कोई, प्रखर बुद्धि, अबुद्धि कोई।
शांत-क्रोधी, नम्र-दम्भी, दो सभी को प्यार॥१५॥"
संगठन के शास्त्र का यह चालिसा है सार। ■

'एक भारत श्रेष्ठ भारत' की परिकल्पना को साकार करता एकल अभियान

सिद्धार्थ शंकर गौतम

आज भारत को स्वतंत्र हुए 79 वर्ष होने जा रहे हैं। 79 वर्षों की स्वतंत्रता ने भारत को दुनिया के अग्रणी राष्ट्रों की कतार में सम्मिलित करवा दिया है तो उसके पीछे प्रेरणा है– उस भाव की जो 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा को मानता है, उस शक्ति की जो समाज की एकजुटता से मिलती है, उस स्वाभिमान की जो हमारी सांस्कृतिक विरासत की थाती है। इसी समाज की एकता, शौर्य, स्वाभिमान को धार देता है 'एकल अभियान'। भारत की बीते 79 वर्षों की यात्रा में एकल की 39 वर्षों की यात्रा उस भाव की साक्षी रही है, जिसने 2021-2023 तक अमृत महोत्सव के 'उत्सव' का अवसर दिया। एकल अभियान से सम्बद्ध सभी संगठनों/आयामों ने अपनी स्थापना काल से ही भारतीयता के बोध को सशक्त कर 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' के भाव को पुष्ट किया है और निरंतर भविष्य के भारत के स्वप्न को साकार कर रहे हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह स्वतंत्रता हमें अनायास ही प्राप्त हुई है? नहीं, अपितु हमने इस स्वतंत्रता के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहे हैं। अनगिनत भारत माँ के बेटों ने स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु स्वयं को होम कर दिया। भारत माँ के वीरगति प्राप्त लाल उस भूभाग से थे जो वास्तव में वंचित और शोषित था। हालांकि इसी वर्ग ने सतयुग में श्रीराम के साथ मिलकर बुराई पर विजय प्राप्त की तो कालांतर में गाँधीजी के आंदोलनों का सबसे बड़ा अस्त्र भी यही समाज बना। इसी वनवासी समाज ने सच्चे अर्थों में भारत को भारत रहने दिया और इसकी सांस्कृतिक विरासत की रक्षा की है। आजादी के बाद के 79 वर्षों में वनवासी समाज की जिजीविषा ने स्वर्णिम भारत के खाके को तैयार किया है। इस प्रक्रिया में सरकारी, अर्ध-सरकारी व निजी संस्थाओं ने महती भूमिका का निर्वहन किया है। इसी परिपेक्ष्य में, गाँधी शांति पुरस्कार से सम्मानित; शिक्षा-संस्कार को समर्पित एकल अभियान ने भारत के ऐसे क्षेत्र को नवाचारों से पुष्ट कर क्रांतिकारी परिणामों को प्रस्तुत किया है, जो वास्तव में उपेक्षित था।

किन्तु वनवासी समाज के जीवन में यह बदलाव स्वमेव हुआ? नहीं। स्वतंत्रता के पश्चात् हुए व्यापक बदलावों के गवाह बनते भारत में ऐसे वनवासी क्षेत्र भी थे जो शिक्षा, संस्कार, सहकार, समानता, स्वाबलंबन के क्षेत्र में धीमी गति से प्रगति करने को विवश थे। सरकार उन तक पहुंची अवश्य थी; किन्तु विश्वास की कमी के चलते वे विकास की अवधारणा से कोसों दूर थे। ऐसे विकट समय में, सुदूर वनवासी क्षेत्र में एक सूर्य चमका, जिसकी लालिमा में विश्वास की चमक दिखाई दी। समाज के लिए सर्वस्व न्योछावर करने का प्रण लिये कुछ सेवकों ने एकल विद्यालय की नींव रखी जो शिक्षा के माध्यम से स्वतंत्रता के उद्देश्य को पूर्ण करने में सहायक थे। प्रारंभ में शिक्षा को समर्पित इन विद्यालयों ने कालांतर में एक ऐसा स्वरूप लिया जिसमें शिक्षा के इतर संस्कार, सहकार, स्वाबलंबन, समानता पक्ष पुष्ट होते गए।

भारत के इतिहास में अंकित सन् 1989, एक मूक क्रान्ति के आह्वान का साक्षी बना, जब एकल अभियान के चिंतकों ने विकसित और सशक्त भारत की कल्पना को साकार करने के लिए भारत के गाँवों को सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक रूप से सबल बनाने के साथ-साथ स्वास्थ्य के प्रति भी जागरूक करने का संकल्प लिया। अंततः जन्म हुआ 'एकल अभियान' का, जो भविष्य के भारत की नींव को मजबूत कर रहा है। मुझसे कई लोग पूछते हैं कि एकल अभियान ने अपनी गतिविधियाँ वनवासी क्षेत्रों में ही प्रारंभ क्यों कीं? दरअसल, यदि हम भारत के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास को देखें तो उसमें वनवासी बंधुओं/भगिनियों को वह स्थान नहीं प्राप्त हुआ जिसके वे हकदार थे। बिरसा मुंडा, जतरा भगत, तिलका

मांझी, चिन्नमा, अल्लूरी सीताराम राजू, कोमाराम भीम, बुधु भगत, टंट्या मामा भीम जैसे अनगिनत वनवासी क्रांतिकारियों को बिसरा दिया गया। कालान्तर में इनका नाम सुनाई अवश्य पड़ता रहा; किन्तु 'नायक' बनने के क्रम में वे अभी भी दूर थे। अब जब नायक ही उपेक्षित हों तो वनवासी समुदाय के विकास की सोच ही बेमानी थी। यही नहीं, श्रीराम जब माँ सीता की खोज में वन-वन भटक रहे थे तो इन्हीं वनवासियों ने उन्हें मार्ग दिखाया था। गाँधीजी के स्वाधीनता संग्राम आन्दोलन में भी इसी वर्ग का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन परिस्थितियों में समाज के चिंतकों ने अपना ध्यान इस वर्ग की ओर लगाया ताकि गौरवशाली भारत की परंपरा का वाहक वनवासी समाज अपनी माँ, माटी और मानुष के माध्यम से भारत के बढ़ते कदमों के साथ कदमताल कर सके।

आज जबकि पूरा विश्व भारत की स्वर्णिम उड़ान का साक्षी बन रहा है, एकल अभियान के माध्यम से एक लाख गाँवों में छह से चौदह वर्ष की आयु के तीस लाख ग्रामीण बालक-बालिकाएँ एकल विद्यालयों में अनौपचारिक और संस्कार शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। दैनिक रूप से तीन घंटे चलने वाले एकल विद्यालय के अनोखे पाठयक्रम में गीत, कविता, कहानी, गणित, योग, व्यायाम और खेलों के माध्यम से बच्चों के सर्वांगीण विकास पर अधिक बल दिया जाता है। एकल अभियान की शैक्षणिक क्रान्ति में बदलते समय के साथ ग्रामीण भारत की नई पीढ़ी को भी डिजिटल साक्षर बनाने का निर्णय भी लिया गया। कुछ चुने गए ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी बच्चों की भाँति ई-शिक्षा के अन्तर्गत टेबलेट के माध्यम से उन्हें साक्षर किया जा रहा है।

39 वर्षों में एकल विद्यालय ने करोड़ों बच्चों को शिक्षित कर उन्हें सरकारी, गैर-सरकारी विद्यालयों में प्रवेश दिलाया। 2011 के सरकारी आँकड़े के अनुसार, भारत में शिक्षा का स्तर 11 प्रतिशत बढ़ा जिसका श्रेय एकल को जाता है। स्वराज की अवधारणा के अनुरूप शिक्षित हो रहे इन ग्रामवासी बच्चों का भविष्य भी भारत के भविष्य की भाँति ही उज्जवल है।

ग्रामीण क्षेत्रों में पंचमुखी शिक्षा के माध्यम से सर्वांगीण विकास का खाका खींच रहे वनबन्धु परिषद ने नगर-ग्रामीण के मध्य की दूरी पाटने का कार्य किया है। धन संग्रह से लेकर उसके उचित क्रियान्वयन तक की प्रक्रिया वनबन्धु परिषद कर रही है ताकि एकल अभियान के वृहद लक्ष्यों में आर्थिक बाधा उत्पन्न न हो। भारत लोक शिक्षा परिषद के अंतर्गत भी विद्यालयों के सुचारू संचालन पर ध्यान दिया जाता है।

वनबन्धु परिषद्, भारत लोक शिक्षा परिषद्, एकल विद्यालय फाउंडेशन (विदेशों में) ने बड़ी संख्या में देश-विदेश के नगरीय, संभ्रात समाज को वनवासी की कुटिया से जोड़ा तथा उनके दुःख-दर्द और उपेक्षा के दुष्परिणामों से परिचित कराया। इन संगठनों के कारण 35,000 से अधिक छोटे-बड़े नगरों ने सहयोगी व दानदाताओं का सहयोग प्राप्त हुआ। एकल ग्लोबल ने विश्व के तमाम बड़े शहरों में एकल चैप्टर के साथ सामंजस्य स्थापित कर एक नजीर प्रस्तुत की है।

इसी प्रकार, एकल की ग्रामोत्थान योजना गाँधीजी और नानाजी देशमुख के 'ग्राम स्वराज' की अवधारणा को साकार कर रही है। इसके अन्तर्गत 'कम्प्यूटर ट्रेनिंग वेन्स' जिन्हें 'एकल ऑन व्हील्स' कहा जाता है; के माध्यम से सम्पूर्ण भारत के सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों और युवाओं को डिजिटल शिक्षा प्रदान की जा रही है। एकल के ग्रामोत्थान संसाधन केन्द्रों ने निकटवर्ती ग्रामीण युवाओं के लिए भी अपनी कम्प्यूटर लैब्ज में स्वरोजगार के नए अवसर सृजित किए हैं। ग्रामीणों के आर्थिक उन्नियन के लिए एकल के ग्रामोत्थान संसाधन केन्द्रों ने गो आधारित कृषि और कृषि आधारित व्यापार की संरचना को सरल ढंग से ग्रामीणों के सम्मुख रखा है। समग्र विकास के लक्ष्य को सामने रखते हुए इन केन्द्रों में ग्रामीण महिलाओं के लिए सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र और ब्यूटीशयन प्रशिक्षण केन्द्र भी खोले गए हैं। वर्ष 2026 तक ऐसे तेरह ग्रामोत्थान संसाधन केन्द्र देश की चारों दिशाओं में विस्तार पा चुके हैं तथा अधिक केन्द्र अभी निर्माण की प्रक्रिया में हैं। आत्मनिर्भरता, कौशल विकास, स्किल इंडिया, कृषि को बढ़ावा, उद्यमिता, ग्राम स्वराज से जागृति, भ्रष्टाचार पर रोक आदि विषयक कार्य ग्रामोत्थान फाउंडेशन के माध्यम से किये जा रहे हैं। मेक इन इंडिया, फॉर दी इंडिया की अवधारणा पर चल रहे इन केन्द्रों के कार्यरत होने से आज रोजगार के लिए शहरों की ओर होने वाले ग्रामीणों के पलायन में भी धीरे-धीरे न्यूनता आ रही है।

भारत के दूरस्थ गाँवों में शहरों की भाँति मिलने वाली स्वास्थ्य सुविधाओं का आज भी अभाव है। एकल के अंतर्गत आरोग्य योजना ने अपनी अनेक स्वास्थ्य सेवाएं इन क्षेत्रों में

आरम्भ की हैं। कोरोना महामारी की अवधि में एकल द्वारा ग्रामीण समाज को न केवल जागरूक करने का उत्कृष्ट कार्य किया गया, बल्कि लाखों की संख्या में मास्क बनाकर हेल्थआ-वर्कर्स और समाज में निःशुल्क वितरित किए। एक अनुमान के अनुसार, आरोग्य फाउंडेशन के कार्यकर्ताओं ने कोरोना काल में 3 लाख से अधिक गाँवों की रक्षा की। 'उपचार से रोकथाम बेहतर' में विश्वास रखते हुए एकल ने ग्रामीण परिवारों में पोषण वाटिका बनाने का कार्य किया। एकल की दो आई-वैन गाँव-गाँव जाकर ग्रामीणों को निःशुल्क चश्मे और दवाईयाँ उपलब्ध करा रही है। निःशुल्क स्वास्थ्य जागरूकता शिविरों का आयोजन भी समय-समय पर नियमित रूप से किया जाता है। आयुर्वेद की पारम्परिक वनोषधियों के प्रयोग से सामान्य रोगों से बचाव के उपाय आरोग्य के कार्यकर्ताओं से जानकर ग्रामीण लाभान्वित हो रहे हैं। एकल कार्यकर्ताओं के प्रयासों से सामान्य साफ-सफाई और स्वच्छता के प्रति भी ग्रामीण क्षेत्रों में जागरूकता बढ़ी है। ग्राम वैद्य योजना ने ग्रामवासियों को इतना प्रशिक्षित कर दिया है कि वे अब सामान्य स्वास्थ्यगत समस्याओं में शहरों की ओर न देखते हुए घरेलू नुस्खों से उपचार कर लेते हैं।

भारतीय संस्कृति की समृद्ध परम्पराओं को एकल श्रीहरि सत्संग समिति के कार्यकर्ता पूरे मनोयोग से संरक्षित कर रहे हैं। अनेक गाँव आज इनके प्रयासों से नशा मुक्त हो चुके हैं। धर्मान्तरण पर रोक लगी है। सुदूर क्षेत्रों में रहने वाले ग्रामवासी और वनवासी आज 'एकल रथ' के माध्यम से अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरवशाली मूल्यों और इतिहास से परिचित हो रहे हैं। ग्राम स्वराज मंच ग्रामीणों को किस प्रकार सरकारी योजनाओं का लाभ मिले, ग्रामीणों का जीवनस्तर उच्च हो, पर ध्यान केन्द्रित करता है। एकल युवा के माध्यम से युवाओं को जोड़कर उन्हें ग्रामीण परिवेश से परिचित करवाने पर चिंतन होता है ताकि वे अपनी जड़ों से जुड़कर उनके प्रति अपने कर्तव्यों को पूर्ण कर सकें।

एकल की इस 39 वर्षों की यात्रा में 'कुम्भ' का बड़ा महत्त्व रहा है। इन 'एकल कुम्भ' के माध्यम से संगठन विस्तार को तो धार मिली ही, कार्यकर्ताओं को देशसेवा का मूलमन्त्र भी मिला। वर्ष 2005 में प्रथम कार्यकर्ता कुम्भ का आयोजन इंदौर में हुआ जिसमें 3,500 पूर्णकालिक सेवाव्रती सम्मलित हुए। इस कुम्भ को कार्यकर्ताओं को ही समर्पित किया गया। वर्ष 2009 में दिल्ली में दूसरा कुम्भ संपन्न हुआ जिसे 'एकल कुम्भ' कहा गया। इसमें सेवाव्रती कार्यकर्ताओं के साथ ग्राम संगठन तथा नगर संगठन को एक साथ मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। पांच दिवसीय यह कुम्भ कई अर्थों में अद्वितीय रहा।

15,000 की संख्या में वृहद् परिवार के रूप में एकल के विराट् स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ। पहली बार विदेश के बंधु भी सम्मिलित हुए। पूरे नगर में प्रभात फेरियां निकाली गईं। वर्ष 2015 में तीसरा कुम्भ 'परिणाम कुम्भ' के नाम से धनबाद में आयोजित हुआ। इस कुम्भ के माध्यम से देश ने एकल अभियान के परिणामपरक पक्ष को जाना, समझा और सराहा। इससे यह बात भी सिद्ध हुई कि संपर्क से संगठन और संगठन से परिणामकारी स्वरूप बनता है। वर्ष 2020 में लखनऊ में 'परिवर्तन कुम्भ' का भव्य आजोयन हुआ जिसने सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के प्रमाण प्रस्तुत किये। इस तथ्य पर भी मुहर लगी कि एक लाख से अधिक गाँवों में एकल अभियान की उपस्थिति से परिवर्तन की किरणें पहुँच चुकी हैं। वर्ष 2023 में धनबाद में आयोजित 'गो-ग्राम कुम्भ' गो आधारित अर्थव्यवस्था को समर्पित था, जिसने ग्रामीण भारत में गोमाता की वृहद उपादेयता को अनुभव किया था।

विश्व हिन्दू परिषद के पूर्व अंतरराष्ट्रीय अध्यक्ष स्व. अशोक सिंघल ने एकल को ब्रह्मास्त्र की संज्ञा देते हुए इसकी महत्ता पर प्रकाश डाला था। स्वामी विवेकानंद की शिक्षाओं पर केन्द्रित एकल अभियान के सेवा-कार्यों को पूरे विश्व से मिल रहे जनसमर्थन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एकल अब सम्पूर्ण विश्व का है। अतएव, भारत के वनवासी और ग्रामीण क्षेत्र भी समृद्ध बनें, संस्कारित और शिक्षित हों, अपने इसी लक्ष्य को पाने के लिए निरन्तर आगे बढ़ रहा है एकल अभियान। और न सिर्फ आगे बढ़ रहा है बल्कि 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' के भाव से राष्ट्र को 'विश्व गुरु' बनाने की ओर अग्रसर भी कर रहा है। एकल अभियान की इस चलायमान यात्रा के साक्षी हैं वे 'देवतुल्य कार्यकर्ता' जिन्होंने निजी हितों की बलिदेवी पर स्वयं को राष्ट्र चिंतन के इस महायज्ञ में होम कर दिया। धन्य हैं ऐसे कार्यकर्ता और ऐसे चिन्तक जो उनकी संभाल करते हैं ताकि राष्ट्र साधना के अश्वमेधी प्रयासों में कमी न रहे। ■

उप संपादक, एकल प्रयास
प्रचार एवं संपर्क प्रमुख, एकल संस्थान

सबल राष्ट्र का रचनाकार

अमरेंद्र कुमार उन्मेष

जिस व्यक्ति में देश की एकता एवं अखंडता के प्रति गहरी सोच होगी, वही राष्ट्र चेतना का अलख जगा सकता है। हालाँकि ऐसा सोचनेवालों की कमी हमारे देश में नहीं है। अलबत्ता, देश-भक्ति एवं राष्ट्रवाद का स्फुलिंग सहस्राधिक लोगों के हृदय से छिटकता है और वे देश के सेवार्थ समर्पित और तत्पर भी रहते हैं। इसके इतर जिनमें राष्ट्र भक्ति तो है लेकिन सुषुप्तावस्था में है, उन्हें हनुमान की तरह जगाने भर की जरूरत होती है। फिर तो एक हनुमान नहीं हमारे देश में ऐसे अनेकानेक हनुमान हैं जो श्रीराम के नाम पर जैसे बिगड़े काम को भी बना देते हैं।

श्रेष्ठ के प्रति हमारी श्रद्धा सदैव समर्पित होती रही है। श्रीराम हमारे राष्ट्र के प्रतीक पुरूष हैं। जाहिर है जब हम श्रीराम में श्रद्धाभाव रखने की बातें करते हैं तो राष्ट्र भी हमारे लिए श्रद्धान्वित हो जाता है। फिर जब कोई हमें राष्ट्र के लिए आह्वान करे तो अविलंब हम हनुमान बनकर तत्पर रहते हैं, अपने आदर्श राम और राष्ट्र की सेवा करने के लिए।

आज के समय में यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि आर. एस.एस. एक राष्ट्रीय स्वाभिमान की संस्था और उसके अदम्य साहसी स्वयं सेवक हनुमान की भूमिका में रहकर अपने सर्वोत्कृष्ट कर्तव्यों का निर्वहन कर रहें हैं। वे अपने राष्ट्र के सर्वतोमुखी उत्थान के प्रति संकल्प से सिद्धि की ओर अहर्निश अग्रसर हैं। ये राष्ट्रभक्त दृढ़ संकल्पित हैं -अपने लक्ष्य और उद्येश्यों को पूरा करने हेतु! वैसे इनका लक्ष्य तो केवल एक है- राष्ट्रोत्थान !सबल सनातन राष्ट्र निर्माण!

अमूमन, किसी बड़े लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु पहले अनेक छोटे-बड़े उद्देश्यों की पूर्ति करके ही अपने उस महान् लक्ष्य का पीछा किया जा सकता है। उपर्युक्त कार्य में सभी संघ से संपृक्त स्वयंसेवक, वे चाहे देश के किसी क्षेत्र और भाषा के बोलनेवाले हों, अपना पुनीत कर्तव्य समझ कर एक ही लक्ष्य से प्रेरित होकर उसका पीछा कर रहे हैं। अपने लक्ष्य के प्रति ऐसी एकरूपता कदाचित किसी संगठन में देखने को नहीं मिलती है।

बहरहाल, संघ के उदेश्य तो अनेक हैं।मसलन, ये कटिबद्ध हैं अपनी सामाजिक एकता ,सांस्कृतिक उन्नयन और बौद्धिक उत्थान के प्रति! इन्हीं संकल्पों के परिणाम स्वरूप तथा उससे ये प्रेरित होकर देश के विभिन्न भू-भाग में आए आपदाओं में पीड़ितों के सेवार्थ बढ़-चढ़कर अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते हैं और प्राणपन से देश तथा समाज की अथक सेवा भी करते हैं। इनका सेवा भाव नि:स्वार्थ तथा जाति-धर्म के विचार किए बगैर तथा राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होता है।

राष्ट्र हित की सर्वोपरी चिंता करनेवाला आर.एस.एस. आज सबसे बड़ा संगठन है। इस संगठन के उद्देश्य– हिन्दुत्व और इसकी सांस्कृतिक समृद्धि, नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देना और सबके सुखी जीवन हेतु सार्थक प्रयास करना है तथा नारी स्मिता को अक्षुण्ण बनाए रखना है। सचमुच, जब ऐसा पवित्र लक्ष्य और उद्देश्य हो तो लोग स्वतः स्फूर्त होकर इससे जुड़ते चले आते हैं।एक तरफ देश में ऐसी ही सकरात्मक सोच के लोग हैं जो इसके समर्थन में रहते हैं, वहीं दूसरी ओर अंध प्रेरणा से परिचालित अंध विरोधी भी हैं।

अमूमन, लोकतांत्रिक ढांचा में लोगों का किसी के विचार से सहमत और असहमत होना स्वाभाविक है; किन्तु आर.एस. एस. की यह विशेषता रही है कि इसके विचारों से सहमत अधिसंख्य लोग इसमें समाहित और सक्रिय होकर एक वृहत् वैचारिक ज्योतिपूंज का हिस्सा बन गए। जो लोग इससे असहमत होकर तर्कहीन, तथ्यहीन, अनर्गल, बेबुनियाद और मनगढ़ंत आरोप लगाए, वे शीघ्र ही अप्रासंगिक भी होते चले गए। उनका अप्रासंगिक होने का कदाचित् सबसे बड़ा कारण दुर्भावनाओं से दुष्प्रेरित ,श्रेष्ठता के प्रति ईर्ष्या और वैचारिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होना रहा है। सनद रहे कि वैचारिक अंध विरोध सृजनात्मक विमर्श को अवरुद्ध ही करता है।

आर.एस.एस की अन्य विशेषताओं के इतर एक विशेषता यह भी रही है कि इसमें वैचारिक स्पष्टता और सबल सनातनी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पक्षधरता भी लोगों को सहज

रूप से न केवल अपनी ओर आकर्षित करती है, बल्कि उनमें राष्ट्रवाद के प्रति उनके कर्तव्यबोध को जगाती भी है और उस लक्ष्य को पूरा करने को प्रेरित भी करती है। यही कारण है कि जहाँ राष्ट्रवाद का ऐसा महान् और स्पष्ट लक्ष्य हो वहाँ व्यक्ति स्वयं को उर्जस्वित और उत्प्रेरित तो महसूस करेगा ही साथ ही अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर होगा।संस्था के सान्निध्य में होने और उसके लक्ष्य को समझने पर कोई राष्ट्र की भलाई ही सोच और कर सकता है।

आर.एस.एस समय तथा परिस्थिति के अनुसार अपनी प्राथमिकताओं को भी बदलता जरूर है; लेकिन यह शुरू से आज तक अपने लक्ष्य एवं उद्देश्यों से कभी नहीं भटका। समय तथा परिस्थिति के साथ विचारों में परिवर्तन या यूँ कहे कि विचारों में नवीनता लाना किसी व्यक्ति और संस्था के लिए प्रासंगिक बने रहने में सहायक होते हैं– इसे सिद्ध करके संघ ने अपने फलक को और विस्तार दिया। इतना ही नहीं, सरकार को भी समय-समय पर बौद्धिक एवं वैचारिक समर्थन और सुझाव देकर यह दिशा प्रदान करता रहा है। संघ के विचारों में ठहराव और जमाव नहीं है,बल्कि इसकी विचारधारा उस सरिता के समान है, जो नित्य निरंतर कल-कल प्रवाहित होकर सभी के लिए समान रूप से अपनी उपयोगिता सिद्ध करती है– ठीक उसी तरह, जिस तरह स्वच्छ और प्रवाहमान धाराओं से भिन्न-भिन्न प्राणी लाभान्वित होते हैं।

आर.एस.एस विभिन्न स्तरों पर अपने देश के विकास को प्राथमिकता से आगे बढ़ाने का स्तुत्य कार्य करता है। उदाहरण के लिए– यह अपने शैक्षिक संस्थान "विद्या भारती" के द्वारा देश के अनेकानेक भागों में संचालित शाखाओं में नवोन्मेषिणी प्रतिभा को तैयार भी कर रहा है। यह आर.एस.एस. का राष्ट्र के निर्माण में बौद्धिक अमूल्य अवदान ही तो है।

उच्च बौद्धिकता का प्रमाण तो यह हमेशा प्रस्तुत करता रहा है. मसलन, समाज के सामान्य जनजीवन के प्रति भी यह चिन्तित रहा है। लोगों को एक ओर जहाँ समाज में व्याप्त अपसंस्कृति, विलासिता, वैमनस्य जैसे दुर्गुणों से बचाता रहा है, वहीं दूसरी ओर सामान्य जन के निम्न आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थिति को भी सुधारने और उसे उँचा उठाने में मदद कर अपना योगदान सुनिश्चित करता रहा है। ऐसा करने में यह निरंतर जन-जन को स्व-जागरण के द्वारा प्रेरित करता रहा है। जन-जन के स्वकीय प्रयास से ही स्व राष्ट्रजागरण तक का लक्षित संकल्प पूरा हो सकेगा। स्व-जागरण के उद्घोष की सफलता से भविष्य में अपेक्षित परिणाम प्राप्त होगा। यह भविष्य के भारत की दूरगामी और सकरात्मक बदलाव का प्रतीक बन सकेगा।

दरअसल, संघ अपने लोगों को स्व-जागरण के लिए प्रेरित करने में बहुत सक्रिय रहा है। यह स्वाभाविक भी है। जब तक देश में जन-जाग्रति नहीं आएगी, तब तक वह देश, समाज या व्यक्ति विकास का मानदंड तय नहीं कर सकता। आज जहाँ लोग केवल अपने अधिकारों के प्रति मुखर हैं, वहीं आर.एस.एस के समावेशी विचारधारा में सबके अधिकारों को सुनिश्चित करते हुए उनमें कर्तव्य बोध को भी जगाने का दुष्कर कार्य कर रहा है।

आर.एस.एस सनातन संस्कृति और राष्ट्रवाद का प्रबल पक्षधर रहा है। सनातन संस्कृति के दर्शन ही है- "वसुधैव कुटुंबकम "और यह हमारी आत्मा में है। हिन्दू तो पवित्र पद्धति और समावेशी स्वभाववाला एकमात्र धर्म है जिसमें विभिन्नता तो है, किन्तु विद्वेष नहीं है। यह कट्टरता से नहीं अपितु अपनी कर्मठता से राष्ट्र की सर्वोपरी सेवा करने को सोत्साह प्रस्तुत रहता है। फिर कुछ पूर्वाग्रह से ग्रस्त लोग यह भी कहते हैं कि संघ की मुस्लिम से तटस्थता क्यों? ऐसे लोगों को बख़ूबी यह समझना चाहिए कि ये किसी गैर हिन्दू को दुश्मन तो नहीं मानता है अन्यथा "मुस्लिम राष्ट्रीय मंच" जैसा संपूरक संस्थान मुस्लिम के द्वारा नहीं बनाया गया होता। हाँ, यह बात भी सत्य है कि यदि कोई इसके लक्षित सबल राष्ट्रवाद की मुख्यधारा में शामिल नहीं हो सकता, जो राष्ट्र के बहुसंख्यक भावनाओ के साथ नहीं चल सकता या इसके विपरीत आचरण करतो है, तो स्वाभाविक रूप से आर.एस.एस उसे राष्ट्रवाद के मुख्यधारा से भटका हुआ मानकर उसे भी साथ लाने का सदैव श्लाघनीय प्रयास करता है। मुस्लिम आर.एस.एस के वैचारिक मुख्यधारा के साथ नहीं जा सकते– यह कुछ अंध विरोध करनेवालों का wrong narrative मात्र है। इसी wrong narrative के द्वारा ऐसे भारतीयों को हमेशा बरगलाने का कार्य होता रहा है, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि जब सभी भारतीय मिलजुल कर एकता का अटूट परिचय देते हुए राष्ट्रोत्थान के महायज्ञ में अपनी पूर्णाहुति देंगे तो निश्चय ही हमारा राष्ट्र भी एक सबल राष्ट्र बन सकेगा। ■

स्वतन्त्रता सेनानी सदन
शेखपुर, मुजफ्फरपुर

संघ से जुड़ें, समाज को जोड़ें : राष्ट्रीय एकता और सेवा की प्रेरणा

मुकेश गुप्ता

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ अनेक भाषाएँ हैं, अनेक परंपराएँ हैं, अनेक आस्थाएँ और जीवन-पद्धतियाँ हैं; फिर भी हमारी पहचान एक है—हम भारतीय हैं। यही भाव भारत की सबसे बड़ी शक्ति है। जब समाज जाति, क्षेत्र, भाषा और संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र को सर्वोपरि मानता है, तब राष्ट्रीय एकता मजबूत होती है और विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (RSS) ने पिछले एक शताब्दी में इसी राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने का महनीय कार्य किया है। संघ का विश्वास है कि राष्ट्र का निर्माण केवल शासन-व्यवस्था से नहीं, बल्कि जागरूक, अनुशासित और कर्तव्यनिष्ठ नागरिकों से होता है। इसलिए उसका मूल मंत्र है—व्यक्ति निर्माण से राष्ट्र निर्माण।

संघ का मानना है कि यदि व्यक्ति श्रेष्ठ बनेगा तो परिवार सुदृढ़ होगा, परिवार सुदृढ़ होगा तो समाज संगठित होगा और समाज संगठित होगा तो राष्ट्र शक्तिशाली बनेगा। संघ की शाखाएँ इसी उद्देश्य की प्रयोगशालाएँ हैं। यहाँ खेल, योग, प्रार्थना, गीत, संवाद और सामूहिक गतिविधियों के माध्यम से अनुशासन, नेतृत्व क्षमता, आत्मविश्वास और सेवा-भाव का विकास किया जाता है। शाखा में आने वाला स्वयंसेवक केवल संगठन का सदस्य नहीं बनता, बल्कि समाज और राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझने वाला सजग नागरिक बनता है।

संघ की शाखा में किसी की जाति, भाषा, क्षेत्र या आर्थिक स्थिति नहीं पूछी जाती। वहाँ केवल एक परिचय महत्त्वपूर्ण होता है—हम सब भारत माता के पुत्र हैं। यही भावना राष्ट्रीय एकता का आधार बनती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ केवल एक संगठन नहीं, बल्कि समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय अनेक संगठनों की प्रेरक शक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि, क्षमता और कार्यक्षेत्र के अनुसार इनमें योगदान दे सकता है।

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् (ABVP) युवाओं को राष्ट्र जीवन के प्रश्नों से जोड़ती है। यह संगठन नेतृत्व विकास, सामाजिक चेतना और राष्ट्रहित के विषयों पर युवाओं को सक्रिय भूमिका निभाने का अवसर देता है। शिक्षा विकास मंडल तथा अन्य शैक्षिक मंच भारतीय जीवन मूल्यों पर आधारित शिक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयास करते हैं। शिक्षक इन माध्यमों से नई पीढ़ी में चरित्र, संस्कार और राष्ट्रीय चेतना का विकास कर सकते हैं।

भारतीय किसान संघ कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता, जैविक खेती और ग्रामीण विकास को बढ़ावा देता है। भारतीय मजदूर संघ श्रमिकों को अधिकारों के साथ-साथ राष्ट्रहित के प्रति उनके कर्तव्यों का भी बोध कराता है। राष्ट्र सेविका समिति महिलाओं के नेतृत्व, आत्मविश्वास और सामाजिक सहभागिता को सशक्त बनाने का कार्य करती है। समाज निर्माण में महिलाओं की भूमिका को संघ सदैव विशेष महत्व देता है।

सेवा भारती, वनवासी कल्याण आश्रम और अनेक अन्य संस्थाएँ शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्राम विकास, आपदा राहत तथा सामाजिक समरसता के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं। इन गतिविधियों के माध्यम से समाज के अंतिम व्यक्ति तक सेवा पहुँचाने का प्रयास किया जाता है।

आज सूचना और तकनीक के युग में समाज को केवल शिक्षित ही नहीं, जागरूक भी होना होगा। राष्ट्रीय दृष्टि से सोचने वाला नागरिक समाज को विभाजित करने वाली शक्तियों से सावधान रहता है और लोगों को भी जागरूक बनाता है।

संघ और उसके प्रेरित संगठन नियमित रूप से संगोष्ठियों, प्रशिक्षण वर्गों, सेवा अभियानों और जन-जागरण कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। इनका उद्देश्य समाज में राष्ट्रीय एकता, सामाजिक सद्भाव और सकारात्मक नागरिक चेतना को मजबूत करना है।वस्तुतः, एक स्वयंसेवक के लिए गुजराती, पंजाबी, तमिल, बंगाली या मराठी होना गौण है; भारतीय होना सर्वोपरि है। यही दृष्टिकोण समाज को जोड़ता है और राष्ट्र को सशक्त बनाता है।

संघ का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने राष्ट्रवाद को जाति, पंथ, भाषा और क्षेत्रीय विभाजनों से ऊपर उठाकर देखा है। संघ की शाखाओं में व्यक्ति का मूल्य उसके जन्म से नहीं, बल्कि उसके चरित्र, कर्म और राष्ट्र के प्रति समर्पण से आँका जाता है। यही कारण है कि गाँव से लेकर महानगर तक, पहाड़ से लेकर समुद्र तट तक, समाज का हर वर्ग संघ की गतिविधियों में समान रूप से सहभागी बन सकता है।

राष्ट्र निर्माण की यात्रा किसी बड़े अभियान से नहीं, छोटे-छोटे कदमों से प्रारंभ होती है। अपने निकट की शाखा में जाकर कुछ समय बिताइए। सेवा कार्यों में भाग लीजिए। रक्तदान शिविर, स्वच्छता अभियान, शिक्षा सहायता या आपदा राहत जैसे कार्यक्रमों से जुड़िए। परिवार में राष्ट्र, समाज और संस्कृति से जुड़े विषयों पर संवाद बढ़ाइए। अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार किसी सेवा या सामाजिक संगठन में योगदान दीजिए। यही छोटे प्रयास आगे चलकर बड़े परिवर्तन का आधार बनते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कल्पना ऐसे भारत की है जो संगठित, आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर और विश्व के लिए प्रेरणास्रोत हो। किंतु ऐसा भारत केवल नीतियों से नहीं बनेगा; उसके लिए समर्पित नागरिकों की आवश्यकता होगी। जब व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज के लिए जीना सीखता है, जब समाज सेवा और समरसता को अपनाता है और जब राष्ट्र सर्वोपरि बन जाता है, तब परिवर्तन अवश्यंभावी होता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम विभाजन की मानसिकता को छोड़कर एकता की भावना को अपनाएँ, अधिकारों के साथ कर्तव्यों को भी समझें और सेवा को जीवन का मूल्य बनाएँ। तभी यह विविधताओं से भरा विशाल राष्ट्र वास्तव में एक सूत्र में पिरोया जा सकेगा—राष्ट्रीयता के सूत्र में, कर्तव्य के सूत्र में और विश्वास के सूत्र में। यही संघ से जुड़ने का वास्तविक अर्थ है—स्वयं को बेहतर बनाना, समाज को संगठित करना और राष्ट्र को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाना। ■

भारतीय कला-दृष्टि : संवेदना, अध्यात्म और संस्कृति का शाश्वत आलोक

राहुल चौधरी

भारतीय संस्कृति का इतिहास यदि किसी एक सूत्र में बाँधा जाए, तो वह सूत्र "कला" है। भारत केवल राजाओं, युद्धों और साम्राज्यों का देश नहीं रहा; वह भावनाओं, प्रतीकों, गीतों, कथाओं और आध्यात्मिक अनुभूतियों का देश रहा है। यहाँ जीवन का प्रत्येक आयाम कला से अनुप्राणित दिखाई देता है। मंदिरों की घंटियों में संगीत है, लोकगीतों में इतिहास है, मूर्तियों में दर्शन है, नृत्य में अध्यात्म है और कविता में जीवन का सत्य। भारतीय कला-दृष्टि इसी व्यापक अनुभूति का नाम है।

भारतीय चिंतन में कला को कभी केवल मनोरंजन का साधन नहीं माना गया। यहाँ कला आत्मा की अभिव्यक्ति है। वह मनुष्य के भीतर छिपी संवेदनाओं को जाग्रत करती है और उसे उसके उच्चतर स्वरूप से परिचित कराती है। इसीलिए भारतीय परंपरा में कलाकार को केवल कारीगर नहीं, साधक कहा गया। वह केवल रूप नहीं गढ़ता, वह चेतना को आकार देता है।

संस्कृत का प्रसिद्ध कथ्य है—

"गीतं वाद्यं च नृत्यं च नाट्यं विष्णु कथां मुनिः।"

तुम चाहे नृत्य करो, गीत गाओ, चाहे कुछ भी करो, किंतु ध्यान में रखो कि वह अंततोगत्वा ईश्वर की साधना का ही रूप बन जाए। जो ऐसा करता है, साधना में लीन हो जाता है, वह सच में पुण्यात्मा हो जाता है। छत्तीस तत्त्वों में एक तत्त्व कला है। यह कला शिव के साथ है। जब शिव निद्रा में से अर्थात् शांत भाव से उठते हैं, निष्क्रिय भाव से शिव उठते हैं तो शिव के साथ के साथ में ललिता महामाया के रूप में सक्रिय हो जाती है – हम कहते हैं – यह ललित कला – ललिता से है l

मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली शक्ति केवल बुद्धि नहीं, संवेदना है और संवेदना को जीवित रखने वाली शक्ति कला है।

वस्तुतः, भारतीय कला की जड़ें प्रकृति में हैं। भारतीय ऋषियों ने प्रकृति को केवल भौतिक वस्तु नहीं माना, बल्कि उसे चेतना का विस्तार समझा। नदी उनके लिए जलधारा नहीं, माँ थी; पर्वत केवल पत्थर नहीं, देवता थे; वृक्ष केवल लकड़ी नहीं, जीवनदाता थे। यही कारण है कि भारतीय कलाकार ने प्रकृति के प्रत्येक रूप में सौंदर्य और अध्यात्म देखा।

जब बादलों की गर्जना होती है, तो भारतीय संगीत में मेघ मल्हार जन्म लेता है। जब वसंत आता है, तो कवि के शब्दों में शृंगार उतर आता है। जब वर्षा की बूँदें मिट्टी पर गिरती हैं, तो लोकगीतों में विरह और मिलन का संगीत बहने लगता है। प्रकृति और कला का यह संबंध भारतीय संस्कृति की आत्मा है।

कालिदास ने ऋतुसंहार और मेघदूत में प्रकृति को जिस प्रकार चित्रित किया, वह केवल वर्णन नहीं, अनुभूति है। बादल उनके यहाँ दूत बन जाता है, ऋतुएँ मानो जीवित पात्र हो जाती हैं। यही भारतीय कला की विशेषता है— वह निर्जीव में भी जीवन का संचार कर देती है।

भारतीय कला-दृष्टि का दूसरा प्रमुख आधार अध्यात्म है। पश्चिम में जहाँ कला को कई बार केवल सौंदर्यबोध तक सीमित किया गया, वहीं भारत में कला को ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग माना गया। यहाँ संगीत साधना है, नृत्य तपस्या है और कविता आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति।

उपनिषदों में कहा गया—

"रसो वै सः।"

अर्थात् परमात्मा स्वयं रसस्वरूप है। भारतीय कला उसी 'रस' की खोज है। जब कोई कलाकार अपने भीतर उठने वाले भावों को रूप देता है, तब वह उस परम रस की अनुभूति कराने का प्रयास करता है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने रस को कला का प्राण कहा। उन्होंने लिखा—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। यही रस दर्शक को भीतर तक स्पर्श

करता है। यदि कला में रस नहीं, तो वह केवल कौशल बनकर रह जाती है।

रामलीला इसका अत्यंत सुंदर उदाहरण है। जब गाँव के किसी छोटे मंच पर राम वनवास के लिए निकलते हैं, तब दर्शकों की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। लोग जानते हैं कि यह अभिनय है, फिर भी वे रोते हैं। क्यों? क्योंकि कला ने उस कथा को उनके हृदय की संवेदना बना दिया है। राम केवल पात्र नहीं रह जाते, वे आदर्श बन जाते हैं। सीता केवल चरित्र नहीं रहतीं, वे त्याग और पवित्रता का प्रतीक बन जाती हैं।

यही भारतीय कला का चमत्कार है—वह इतिहास को भाव में बदल देती है और भाव को जीवन में।

तुलसीदास ने जब रामचरितमानस की रचना की, तब उन्होंने केवल कथा नहीं कही; उन्होंने भारतीय समाज की आत्मा को शब्द दिए। यही कारण है कि गाँवों की चौपालों से लेकर मंदिरों तक रामायण आज भी जीवित है। यदि केवल दर्शन होता, तो वह शायद ग्रंथों तक सीमित रह जाता; किंतु कला ने उसे लोकमानस में उतार दिया।

भारतीय कला की सबसे बड़ी शक्ति उसकी लोकधर्मिता है। यहाँ कला राजदरबारों की सीमा में बंद नहीं रही। वह लोकजीवन के साथ साँस लेती रही। खेतों में गाए जाने वाले गीत, विवाह के मंगलाचार, कजरी, बिरहा, आल्हा, भजन और लोकनृत्य— ये सभी भारतीय समाज की सामूहिक स्मृति हैं।

जब कोई ग्रामीण स्त्री चक्की पीसते समय गीत गाती है, तब वह केवल समय नहीं काटती; वह अपने दुःख, आशा, प्रेम और संघर्ष को स्वर देती है। यही लोककला भारतीय संस्कृति की जीवंत धारा है।

भारतीय नृत्य परंपरा भी इसी गहरी चेतना से जुड़ी हुई है। शिव का तांडव केवल नृत्य नहीं, सृष्टि की गति का प्रतीक है। कृष्ण का रास केवल उत्सव नहीं, प्रेम और आत्मा के मिलन का प्रतीक है। भरतनाट्यम, कथक, ओडिसी और कुचिपुड़ी जैसे नृत्य रूपों में केवल शरीर की गति नहीं, भावों की भाषा बोलती है।

कथक में जब नर्तकी आँखों के संकेत से राधा का विरह व्यक्त करती है, तो दर्शक केवल नृत्य नहीं देखता; वह प्रेम की वेदना अनुभव करता है। यही भारतीय कला की शक्ति है—वह बाहरी दृश्य को आंतरिक अनुभूति में बदल देती है।

भारतीय संगीत भी अध्यात्म और संवेदना का अद्भुत संगम है।

तानसेन की कथाएँ केवल किंवदंतियाँ नहीं, वे भारतीय समाज की उस आस्था को व्यक्त करती हैं जिसमें संगीत को दिव्य शक्ति माना गया। भक्ति आंदोलन के संतों ने संगीत को जनचेतना का माध्यम बनाया। कबीर ने निर्गुण को साखियों में ढाला, सूरदास ने वात्सल्य को पदों में पिरोया और मीरा ने प्रेम को भक्ति का स्वर दिया।

मीरा कहती हैं—

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोय।"

यह केवल भक्ति नहीं, आत्मसमर्पण की चरम अनुभूति है। भारतीय कला इसी गहन भावभूमि से जन्म लेती है।

भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला भी केवल सजावट नहीं हैं। अजंता की गुफाओं के चित्रों में करुणा और शांति का अद्भुत संसार दिखाई देता है। एलोरा की शिल्पकृतियाँ पत्थरों में प्राण फूँक देती हैं। खजुराहो की मूर्तियाँ जीवन की समग्रता का उत्सव हैं। वे यह बताती हैं कि भारतीय दृष्टि जीवन को खंडों में नहीं बाँटती; वह उसे पूर्णता में स्वीकार करती है।

भारतीय कला-दृष्टि में 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' का आदर्श अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहाँ सौंदर्य केवल बाहरी आकर्षण नहीं, सत्य और मंगल से जुड़ा हुआ है। जो सुंदर है, वही शिव है; जो शिव है, वही सत्य है। इसीलिए भारतीय कला केवल इंद्रियों को प्रसन्न नहीं करती, वह आत्मा को भी स्पर्श करती है।

आज के समय में जब मनुष्य मशीनों और कृत्रिमता के बीच घिरता जा रहा है, कला की आवश्यकता और बढ़ गई है। आधुनिक जीवन में सुविधाएँ बढ़ी हैं, पर संवेदनाएँ घटती जा रही हैं। मनुष्य के पास साधन हैं, पर शांति नहीं। ऐसे समय में कला उसे भीतर से पुनर्जीवित करती है। एक कविता टूटे हुए मन को सहारा दे सकती है। एक गीत निराश व्यक्ति में आशा जगा सकता है। एक चित्र समाज को नए दृष्टिकोण से सोचने के लिए प्रेरित कर सकता है। इसीलिए कला केवल व्यक्तिगत अनुभव नहीं, सामाजिक शक्ति भी है।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन इसका प्रमाण है। "वंदे मातरम्", "सरफरोशी की तमन्ना" और "झाँसी की रानी" जैसी रचनाओं ने लोगों के भीतर स्वतंत्रता की चेतना जगाई। कला ने वहाँ शस्त्र से अधिक प्रभाव उत्पन्न किया।

भारतीय संस्कृति ने सदैव कलाकार को सम्मान दिया क्योंकि कलाकार समाज की संवेदना का संरक्षक होता है। जिस

समाज में कला मर जाती है, वहाँ मनुष्य धीरे-धीरे संवेदनहीन हो जाता है। वहाँ केवल उपभोग बचता है, करुणा नहीं।

संस्कृत में कहा गया है—

"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।"

अर्थात् कला और नाटक भिन्न-भिन्न रुचियों वाले लोगों को भी एक साथ आनंद प्रदान करते हैं। यही कला की सामाजिक शक्ति है—वह भेद मिटाती है और मनुष्यों को जोड़ती है।

अंततः, भारतीय कला-दृष्टि हमें यह सिखाती है कि कला केवल रंग, शब्द, ध्वनि या आकृति नहीं है; वह जीवन का रस है। वह मनुष्य को भीतर से परिष्कृत करती है, उसे संवेदनशील बनाती है और उसे उसके आध्यात्मिक स्वरूप से परिचित कराती है।जब तक मनुष्य के भीतर प्रेम रहेगा, करुणा रहेगी, सौंदर्य की खोज रहेगी, तब तक कला जीवित रहेगी। क्योंकि कला केवल बनाई नहीं जाती—वह अनुभूत होती है। और भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने कला को केवल देखा नहीं, जिया है।

भारत की कलाएँ केवल मनोरंजन की विधाएँ नहीं हैं, वे भारतीय आत्मा की जीवित अभिव्यक्तियाँ हैं। पर्वतों की गोद में बसे मणिपुर से लेकर समुद्र की लहरों से घिरे केरल तक, और मरुस्थलीय गुजरात से लेकर गंगा-यमुना के मैदानों तक—भारत की विविध कलाओं में एक अद्भुत सांस्कृतिक एकता दिखाई देती है। भाषा बदल जाती है, वेशभूषा बदल जाती है, वाद्य बदल जाते हैं, किंतु प्रकृति, ईश्वर और प्रेम के प्रति जो भाव है, वह आश्चर्यजनक रूप से समान दिखाई देता है। यही भारतीय संस्कृति की आत्मा है।

मणिपुर का रासलीला हो या उत्तर प्रदेश की रासलीला, दोनों में कृष्ण के प्रति वही माधुर्य भाव दिखाई देता है। मणिपुर के कलाकार जब वृंदावन की लीलाओं का मंचन करते हैं, तो वहाँ नृत्य केवल शारीरिक गति नहीं रहता; वह भक्ति का रूप ले लेता है। उसी प्रकार गुजरात का गरबा भी देवी-उपासना का उत्सव होते हुए स्त्री-शक्ति और प्रकृति के चक्र का प्रतीक बन जाता है। दीपों के चारों ओर घूमता हुआ गरबा मानो सृष्टि की अनंत गति का बोध कराता है।

केरल का कथकली अपने भव्य श्रृंगार, रंगों और मुद्राओं के माध्यम से रामायण और महाभारत की कथाओं को जीवित करता है। वहीं राजस्थान की पाबूजी की फड़ या कच्छ के लोकगीत भी लोकदेवताओं और प्रकृति से जुड़ी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। इन सबमें एक समान तत्व है—मनुष्य और सृष्टि के बीच गहरा संबंध।

भारतीय लोककलाओं में प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं है, वह जीवंत पात्र है। बिहार के लोकगीतों में सावन की वर्षा विरहिणी नायिका की पीड़ा बन जाती है। बंगाल के बाउल गीतों में नदी और नाव जीवन की यात्रा के प्रतीक बन जाते हैं। पंजाब के गिद्धा और भांगड़ा में खेतों की हरियाली और फसल की खुशी थिरकती दिखाई देती है। दक्षिण भारत के लोकनृत्यों में वर्षा, वन और समुद्र का संगीत गूँजता है। इससे स्पष्ट होता है कि भारत की लोककलाएँ प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना को व्यक्त करती हैं।

ईश्वर के प्रति भाव भी भारत की कलाओं में एक जैसा दिखाई देता है। चाहे वह महाराष्ट्र का अभंग हो, तमिलनाडु का भक्ति संगीत, असम का सत्रिया नृत्य या कश्मीर के सूफी लोकगीत—सभी में ईश्वर को प्रेम और करुणा के माध्यम से अनुभव किया गया है। भारतीय कलाएँ ईश्वर को भय का नहीं, आत्मीयता का विषय बनाती हैं। यहाँ कृष्ण मित्र भी हैं, राम आदर्श भी हैं और देवी माँ भी हैं।

प्रेम भारतीय लोककलाओं का सबसे व्यापक भाव है। यह प्रेम केवल स्त्री-पुरुष का नहीं, बल्कि मनुष्य और प्रकृति, जीव और ईश्वर, समाज और संस्कृति के बीच संबंध का प्रतीक है। ब्रज के होली गीतों से लेकर मणिपुर के रास तक, गुजरात के गरबा से लेकर केरल के मंदिर-नृत्यों तक—हर जगह प्रेम जीवन का मूल स्वर बनकर उपस्थित है।

वास्तव में भारत की लोककलाएँ यह सिद्ध करती हैं कि विविधता के भीतर भी एक गहरी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। भारत अनेक भाषाओं, परंपराओं और क्षेत्रों का देश होते हुए भी अपनी कला के माध्यम से एक ही भावभूमि पर खड़ा दिखाई देता है—जहाँ प्रकृति पूज्य है, ईश्वर आत्मीय है और प्रेम जीवन का शाश्वत सत्य। कदाचित् इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त कहते है –

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ...

■

विचार से विस्तार तक राष्ट्र निर्माण की गाथा है संघ की शताब्दी यात्रा

जलज कुमार अनुपम

20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में हिन्दुस्तान ब्रिटिश शासन के अधीन था। हिंदू समाज गहरी निराशा, विभाजन और हीनभावना से ग्रस्त था। सदियों के विदेशी आक्रमण, गुलामी और सामाजिक कुरीतियों जाति-पाति, छुआछूत, अंधविश्वास ने समाज को कमजोर कर दिया था। 1920 के दशक में ख़िलाफ़त आंदोलन और उसके बाद मोपला विद्रोह (1921) में हिंदुओं पर हुए अत्याचार, तथा देश भर में बढ़ते सांप्रदायिक दंगे ने डॉक्टर केशव बलराम हेडगेवार जी को गहराई से झकझोर दिया। उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिक स्वतंत्रता अकेले पर्याप्त नहीं है। यदि समाज ही संगठित, अनुशासित और चरित्रवान नहीं होगा, तो राजनीतिक आजादी भी स्थायी नहीं रह सकती।

डॉक्टर ने देखा कि हिंदू समाज बिखरा हुआ और आपस में लड़ता रहता है। युवा पीढ़ी में राष्ट्रभक्ति और बलिदान की भावना कमजोर हो रही है। हिंदू अपनी संस्कृति, इतिहास और गौरव को भूलते जा रहे हैं।

विजयादशमी 1925 नागपुर के रेशीमबाग मैदान में डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने कुछ युवकों को एकत्र कर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नींव रखी। एक सदी बाद, विजयादशमी 2025 पर संघ अपनी शताब्दी यात्रा के साथ खड़ा है। यह महज एक संगठन का विस्तार नहीं, बल्कि 100 वर्षों तक निरंतर चले एक संकल्प, अनुशासन और विचार-यात्रा का सजीव प्रमाण है। हिंदू संगठन के लक्ष्य से शुरू हुआ यह अभियान आज 'राष्ट्र-निर्माण' के व्यापक स्वरूप में परिवर्तित हो चुका है।

डॉक्टर साहेब का स्पष्ट मानना था व्यक्ति को बनाओ, राष्ट्र अपने आप बन जाएगा। संघ की स्थापना का मुख्य कारण हिंदू समाज को संगठित करना था। प्रत्येक हिंदू में शारीरिक, मानसिक और चरित्रगत शक्ति का विकास करना था। हिंदू को मात्र एक धर्म नहीं, बल्कि राष्ट्रीय पहचान बनाना था।

विदेशी गुलामी की मानसिकता को समाप्त कर स्वाभिमान और स्वधर्म की चेतना जगाना था; अखंड भारत की अवधारणा को सजीव करना था।

संघ की शाखा इसी उद्देश्य को पूरा करने का साधन बनी। शाखा के माध्यम से डॉक्टर जी ने एक ऐसे व्यक्ति का निर्माण शुरू किया, जो अनुशासित, त्यागी, राष्ट्रभक्त और सकारात्मक हो।

डॉक्टर जी ने संघ को कोई साधारण संगठन नहीं, बल्कि राष्ट्र-धर्म का रूप दिया। उन्होंने कहा था कि संघ का काम "हिंदू समाज को जाग्रत और संगठित करके एक शक्तिशाली

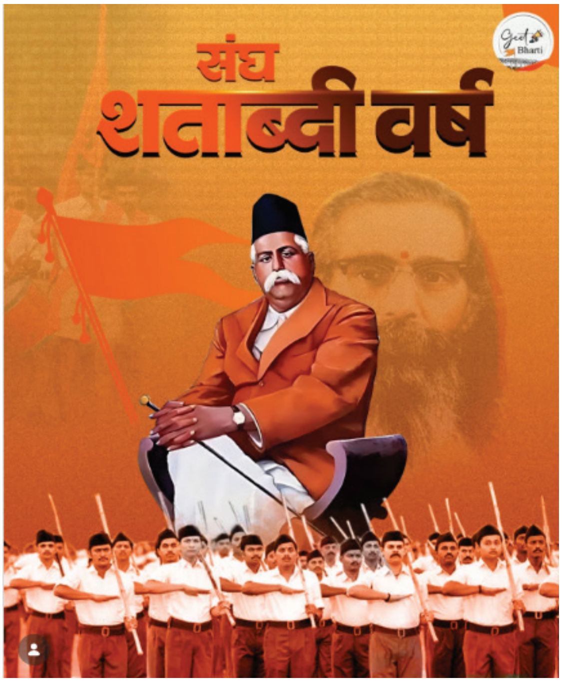

राष्ट्र का निर्माण करना" है। संघ की स्थापना इसलिए हुई; क्योंकि डॉक्टर जी मानते थे कि बिना सशक्त और चरित्रवान समाज के कोई भी राष्ट्र महान् नहीं बन सकता है।

संघ का मूल विचार जितना सरल दिखता है, उतना ही गहरा है। डॉ. हेडगेवार ने इसे केवल एक विचार नहीं, बल्कि एक व्यवहारिक संगठन-शक्ति के रूप में विकसित करने का प्रयास किया। इसी सोच ने संघ को एक दीर्घकालिक सामाजिक आंदोलन का रूप दिया है।

द्वितीय सरसंघचालक एम.एस. गोलवलकर ने इस विचार को और विस्तार देते हुए 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की अवधारणा को स्पष्ट किया। उनके नेतृत्व में संघ ने अपनी वैचारिक दिशा को मजबूत किया और संगठनात्मक रूप से भी देश के कोने-कोने तक पहुंच बनाई। संघ की कार्यपद्धति में शाखा व्यवस्था केंद्रीय भूमिका निभाती है— जहाँ दैनिक दिनचर्या के माध्यम से व्यक्तित्व निर्माण, अनुशासन और सामाजिक चेतना का विकास किया जाता है।

आज स्थिति यह है कि संघ की शाखाएं केवल भारत तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि विश्व के अनेक देशों में भी सक्रिय हैं। लाखों स्वयंसेवक प्रतिदिन शाखाओं के माध्यम से जुड़कर समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभा रहे हैं। संघ स्वयं को किसी राजनीतिक दल के रूप में प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि 'व्यक्ति-निर्माण से राष्ट्र-निर्माण' के सिद्धांत पर कार्य करता है।

संघ की पहचान उसके सेवा कार्यों से भी बनती है। प्राकृतिक आपदाओं के समय राहत कार्य हो या समाज के वंचित वर्गों के बीच शिक्षा और स्वास्थ्य की पहल— संघ के स्वयंसेवक हर जगह सक्रिय दिखाई देते हैं। बिना किसी प्रचार-प्रसार के, 'सेवा ही संगठन' के भाव के साथ किया गया यह कार्य संघ की कार्यशैली को अलग पहचान देता है।

समय के साथ संघ ने केवल अपने संगठन का विस्तार ही नहीं किया, बल्कि अनेक आनुषंगिक संस्थाओं के माध्यम से समाज के विविध क्षेत्रों में प्रभावी उपस्थिति भी दर्ज कराई। शिक्षा, श्रम, युवा, महिला सशक्तिकरण और ग्रामीण विकास जैसे क्षेत्रों में सक्रिय ये संगठन संघ के व्यापक दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करते हैं।

शताब्दी वर्ष के इस पड़ाव पर संघ अपने 'पंच-परिवर्तन' जैसे अभियानों के माध्यम से समाज में सकारात्मक बदलाव की दिशा में आगे बढ़ रहा है। सामाजिक समरसता, पर्यावरण संरक्षण, परिवार प्रबोधन, स्वदेशी जागरण और नागरिक कर्तव्य, इन पांच आयामों पर केंद्रित यह अभियान संघ की भविष्य दृष्टि को स्पष्ट करता है।

कुल मिलाकर, 1925 से 2025 तक की संघ यात्रा केवल समय का विस्तार नहीं, बल्कि विचार, संगठन और सेवा के निरंतर विकास की कहानी है। यह यात्रा आज भी जारी है, एक ऐसे लक्ष्य की ओर, जहां संगठित समाज के माध्यम से सशक्त राष्ट्र का निर्माण संभव हो सके।

शाखा से व्यक्ति निर्माण

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दृष्टि में शाखा संघ का हृदय है और व्यक्ति निर्माण का सबसे प्रभावी साधन है। संघ की स्थापना के समय डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार जी ने स्पष्ट कहा था कि व्यक्ति को बनाओ, राष्ट्र अपने आप बन जाएगा। इसी सोच को साकार करने का प्रमुख माध्यम दैनिक शाखा है।

शाखा संघ का मूल इकाई है। रोजाना शाम को स्थानीय मैदान, पार्क या मंदिर प्रांगण में आयोजित होने वाली यह बैठक मात्र एक सभा नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण का जीवंत विद्यालय है। शाखा में कोई ऊँच-नीच, जाति-पाति या पद-प्रतिष्ठा नहीं होती है। सभी स्वयंसेवक समान वस्त्र में, समान भाव से एकत्र होते हैं। यह समानता की पहली पाठशाला है।

शाखा का कार्यक्रम चार मुख्य अंगों पर आधारित होता है: पहला– शारीरिक अभ्यास जिसमें दंड-बैठक, सूर्यनमस्कार, योग और खेल होता है जो शरीर को स्वस्थ, सुदृढ़ और अनुशासित बनानए के लिये होता है।

दूसरा– बौद्धिक प्रशिक्षण, जिसमें राष्ट्र, संस्कृति, इतिहास और वर्तमान घटनाओं पर चर्चा और बौद्धिक दृष्टि को स्पष्ट और राष्ट्रभक्त बनाने के लिये पथ दिखाये जाते हैं।

तीसरा– प्रार्थना एवं संस्कार जिसमें अपने ध्येय के प्रति समर्पण का भाव रखते हुये भारत को परम वैभव पर पहुचाने वाले ध्येय को लेकर आंतरिक चेतना को जागृत करने क प्रयास होता है।

चौथा– संगठन और अनुशासन है जिसमें आज्ञा पालन, सामूहिक कार्य और नेतृत्व क्षमता का विकास होत है।

शाखा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक समग्र विकास पर बल देती है। यहां स्वयंसेवक सीखता है कि व्यक्तिगत सुख से ऊपर राष्ट्रहित है। स्वार्थ को त्यागकर समर्पण की भावना विकसित होती है। डर, संकोच और हीनभावना को दूर कर आत्मविश्वास और साहस जाग्रत होता है।

संघ के प्रचारक और वरिष्ठ स्वयंसेवक बताते हैं कि शाखा में आने वाला बालक धीरे-धीरे अनुशासित युवक, जिम्मेदार नागरिक और समर्पित राष्ट्र सेवक बन जाता है। शाखा ने ही ऐसे हजारों कार्यकर्ता तैयार किए हैं, जो बिना किसी पद, पदवी या वेतन के देश सेवा में लगे हुए हैं। आपदा में सबसे पहले शाखा के स्वयंसेवक पहुंचते हैं, सामाजिक समरसता के कार्यक्रम चलाते हैं और चरित्रवान समाज का निर्माण करते हैं।

गुरुजी एम.एस. गोलवलकर जी ने कहा था कि शाखा एक कुम्हार की भट्टी है, जहां मिट्टी को आकार दिया जाता है। शाखा व्यक्ति को अहंकार से मुक्त कर "हम" की भावना सिखाती है। यह सिखाती है कि हिंदू समाज एक परिवार है और हम सभी इसके अंग हैं।

आज जब पश्चिमी संस्कृति व्यक्ति को उपभोक्ता मात्र बना रही है, तब संघ की शाखा उसे संस्कारवान, चरित्रवान और राष्ट्रवादी व्यक्ति बनाने का कार्य कर रही है। शताब्दी वर्ष में पंच-परिवर्तन अभियान के अंतर्गत शाखा विस्तार को और गति दी गई है, ताकि हर गांव और मोहल्ले में व्यक्ति निर्माण का यह यज्ञ निरंतर चले।

शाखा से व्यक्ति निर्माण ही संघ का मूल मंत्र है। जब लाखों-करोड़ों व्यक्ति अनुशासित, चरित्रवान और राष्ट्रभक्त बन जाएंगे, तब सच्चा राष्ट्र-निर्माण स्वतः संभव होगा। शाखा न केवल स्वयंसेवक बनाती है, बल्कि एक बेहतर मानव और बेहतर भारतीय बनाती है।

राष्ट्र-निर्माण में योगदान सेवा, संघर्ष

राष्ट्र-निर्माण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मूल ध्येय रहा है। स्थापना काल से ही संघ ने यह स्पष्ट किया कि उसका उद्देश्य केवल संगठन खड़ा करना नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्तित्व तैयार करना है जो समाज और राष्ट्र के लिए समर्पित हों। स्वतंत्रता संग्राम में संघ की प्रत्यक्ष राजनीतिक भूमिका सीमित रही, लेकिन डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार स्वयं कांग्रेस से जुड़े रहे और महात्मा गांधी के विचारों से प्रभावित थे। स्वतंत्रता के बाद संघ ने अपने कार्य का केंद्र 'सेवा' को बनाया और इसी को राष्ट्र-निर्माण का आधार माना।

समय के साथ संघ ने विभिन्न क्षेत्रों में अनेक संगठनों के माध्यम से अपने कार्य को विस्तार दिया। सेवा भारती, वनवासी कल्याण आश्रम और विद्या भारती जैसे संस्थानों ने शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में व्यापक काम किया है। देश के दूरदराज इलाकों, विशेषकर वनवासी और ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल, छात्रावास, चिकित्सा केंद्र और स्वावलंबन परियोजनाएं चलाकर लाखों लोगों के जीवन में बदलाव लाने का प्रयास किया गया है।

आपदा के समय संघ की सक्रियता उसकी पहचान बन चुकी है। चाहे भूकंप हो, बाढ़ हो या कोई अन्य प्राकृतिक संकट—संघ के स्वयंसेवक बिना किसी भेदभाव के राहत और पुनर्वास कार्यों में जुट जाते हैं। विशेष रूप से COVID-19 महामारी के दौरान संघ के लाखों स्वयंसेवकों ने ऑक्सीजन, भोजन, दवाइयों और अन्य आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था कर समाज के सामने सेवा का एक व्यापक उदाहरण प्रस्तुत किया।

सामाजिक समरसता के क्षेत्र में भी संघ ने लगातार प्रयास किए हैं। 'समरसता सम्मेलन' और 'सहभोजन' जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से जातिगत भेदभाव को समाप्त करने और समाज में एकता की भावना को मजबूत करने की पहल की गई है। संघ का स्पष्ट संदेश रहा है कि राष्ट्र निर्माण के लिए समाज के हर वर्ग का साथ जरूरी है।

संघ की कार्यशैली में 'सेवा, संघर्ष और समरसता' तीनों का संतुलन दिखाई देता है। एक ओर जहां सेवा कार्यों के माध्यम से समाज के कमजोर वर्गों को सहारा दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर वैचारिक स्तर पर एकता और राष्ट्रीय चेतना को मजबूत करने का प्रयास होता है। संघ का यह विश्वास रहा है कि जब समाज संगठित और समरस होगा, तभी राष्ट्र सशक्त बनेगा—और इसी दिशा में उसका सतत प्रयास जारी है।

आपातकाल और संघ

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दृष्टि में 25 जून 1975 को

लगाया गया आपातकाल भारतीय लोकतंत्र का एक काला अध्याय था। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा संविधान के अनुच्छेद 352 के तहत आपातकाल की घोषणा के साथ ही नागरिक स्वतंत्रताएँ छीन ली गईं, प्रेस पर सेंसरशिप लगा दी गई और विपक्षी आवाजों को कुचलने का systematic प्रयास शुरू हुआ।

संघ पर तुरंत प्रतिबंध लगा दिया गया। हजारों स्वयंसेवकों को बिना मुकदमे के जेल में डाल दिया गया। अनुमान के अनुसार कुल 1.30 लाख से अधिक सत्याग्रही गिरफ्तार किए गए, जिनमें बड़ी संख्या संघ के स्वयंसेवकों की थी। MISA कानून के तहत हजारों को लंबे समय तक बंदी बनाया गया।

फिर भी इस कठिन परीक्षा में संघ ने अपनी संगठनात्मक शक्ति, अनुशासन और राष्ट्रभक्ति का अद्भुत परिचय दिया। जेलों के अंदर स्वयंसेवक सामूहिक प्रार्थना करते, शारीरिक अभ्यास करते और एक-दूसरे को प्रेरित करते रहे। भूमिगत रहकर भी संगठन ने जन-जागरण जारी रखा। प्रचारक और कार्यकर्ता गुप्त रूप से देश भर में घूमकर आपातकाल के खिलाफ जनमत तैयार करते रहे।

पूज्य बालासाहेब देवरस जी, जो उस समय सरसंघचालक थे, ने आपातकाल के दौरान भी दृढ़ता दिखाई। उन्होंने सरकार को पत्र लिखकर संवाद का मार्ग सुझाया, लेकिन जब बातचीत असफल रही तो संघ ने पूर्ण विरोध का रुख अपनाया। जयप्रकाश नारायण जी के नेतृत्व वाले जन-आंदोलन को संघ परिवार ने पूर्ण समर्थन दिया। ABVP, जनसंघ और अन्य आनुषांगिक संगठनों के कार्यकर्ताओं ने सड़क से लेकर जेल तक लोकतंत्र की रक्षा के लिए संघर्ष किया।

संघ की दृष्टि में आपातकाल दूसरा स्वाधीनता संग्राम था। पहला संग्राम विदेशी शासन से आजादी के लिए था, तो दूसरा संग्राम आंतरिक तानाशाही से लोकतंत्र बचाने के लिए। इस दौरान संघ के स्वयंसेवकों ने दिखाया कि वे न केवल शाखा में अनुशासन सीखते हैं, बल्कि संकट के समय उसे राष्ट्रहित में खर्च भी करते हैं।

आपातकाल हटने के बाद 1977 के आम चुनाव में जनता पार्टी की सरकार बनी। इसमें जनसंघ के कई नेता, जो संघ से प्रेरित थे, महत्त्वपूर्ण भूमिका में आए। आपातकाल ने देश को यह सिखाया कि संगठित और चरित्रवान शक्ति कितनी मजबूत हो सकती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि आपातकाल के दौरान उसकी भूमिका मात्र विरोध की नहीं, बल्कि लोकतंत्र के रक्षक की थी। संघ ने साबित किया कि वह सत्ता के सामने झुकने वाला संगठन नहीं, बल्कि सिद्धांतों और राष्ट्रधर्म पर अडिग रहने वाला आंदोलन है।

आज शताब्दी वर्ष में जब हम उस काल को याद करते हैं, तो यह अध्याय हमें सिखाता है कि लोकतंत्र की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ सकता है, और संघ हमेशा इस दायित्व के लिए तैयार रहा है।

आनुषंगिक संगठन: विचार का विस्तार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सीधे तौर पर राजनीति में भाग नहीं लेता, लेकिन उसके विचार से प्रेरित अनेक अनुषंगिक संगठन समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। यही संगठन संघ के व्यापक दृष्टिकोण को जमीन पर उतारने का माध्यम बनते हैं। शिक्षा से लेकर श्रम, संस्कृति से लेकर सेवा—हर क्षेत्र में इन संस्थाओं की उपस्थिति दिखाई देती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) के संघ परिवार में दर्जनों प्रमुख आनुषांगिक संगठन कार्यरत हैं, जो भारतीय समाज के हर क्षेत्र में सक्रिय रहते हुए राष्ट्र-निर्माण, सांस्कृतिक जागरण, सामाजिक समरसता और सेवा कार्य को अपना मुख्य ध्येय मानते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में भारतीय जनता पार्टी (BJP) प्रमुख है, जो संघ की वैचारिक दिशा पर चलते हुए राष्ट्रवाद, हिंदुत्व, सुशासन और विकास को आगे बढ़ाती है। धार्मिक और सांस्कृतिक जागरण के लिए विश्व हिंदू परिषद (VHP) हिंदू समाज को संगठित करने, मंदिर आंदोलन चलाने और सनातन संस्कृति के संरक्षण का कार्य करती है, जबकि इसका युवा संगठन बजरंग दल हिंदू युवाओं को अनुशासन, शारीरिक क्षमता और सांस्कृतिक गौरव से जोड़ता है।

शिक्षा क्षेत्र में विद्या भारती पूरे देश में हजारों शिशु मंदिर, सरस्वती विद्या मंदिर और उच्च शिक्षण संस्थान चलाकर राष्ट्रीय मूल्यों पर आधारित शिक्षा प्रदान करता है। दूर-दराज के आदिवासी क्षेत्रों में एकल विद्या (Ekal Vidyalaya) एकल विद्यालयों के माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक विकास का कार्य संचालित करती है।

छात्रों के बीच अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (ABVP) विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में राष्ट्रवादी विचारधारा, छात्र समस्याओं और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से सक्रिय है। श्रम क्षेत्र में भारतीय मजदूर संघ (BMS) देश का सबसे बड़ा ट्रेड यूनियन है, जो श्रमिकों के हितों की रक्षा स्वदेशी दृष्टिकोण से करता है। वहीं भारतीय किसान संघ (BKS) किसानों की समस्याओं, कृषि सुधार, न्यूनतम समर्थन मूल्य और ग्रामीण विकास पर निरंतर कार्य करता है।

सेवा कार्य के प्रमुख संगठन सेवा भारती आपदा राहत, स्वास्थ्य शिविर, शिक्षा, गोशाला और गरीब कल्याण के क्षेत्र में व्यापक नेटवर्क चलाता है। भारत विकास परिषद सामाजिक विकास, स्वास्थ्य जागरण, शिक्षा प्रसार और पर्यावरण संरक्षण के माध्यम से समग्र राष्ट्रीय विकास का कार्य करता है। आदिवासी कल्याण के लिए वनवासी कल्याण आश्रम जंगलों और दूरदराज क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति संरक्षण और आत्मनिर्भरता के कार्यक्रम चलाता है।

महिलाओं के सशक्तीकरण में राष्ट्र सेविका समिति चरित्र निर्माण, कौशल विकास और सामाजिक सेवा का कार्य करती है, जबकि दुर्गा वाहिनी VHP की महिला शाखा के रूप में युवा महिलाओं को संगठित करती है।

आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी जागरण मंच स्वदेशी अर्थव्यवस्था, छोटे उद्योगों और विदेशी कंपनियों के अतिक्रमण के खिलाफ जागरण करता है। लघु उद्योग भारती छोटे उद्यमियों को प्रोत्साहन और समर्थन देता है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में संस्कार भारती नाटक, संगीत, नृत्य और लोक कलाओं के संरक्षण तथा प्रचार का कार्य संभालता है। अखिल भारतीय साहित्य परिषद राष्ट्रवादी साहित्य, हिन्दी-संस्कृत साहित्य के प्रचार-प्रसार, लेखकों के सम्मान और सांस्कृतिक साहित्यिक जागरण का महत्वपूर्ण कार्य करती है। खेल विकास में क्रीड़ा भारती युवाओं को खेलकूद से जोड़कर शारीरिक और मानसिक विकास पर बल देता है।

स्वास्थ्य क्षेत्र में आरोग्य भारती आयुर्वेद, योग और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों को बढ़ावा देता है तथा स्वास्थ्य जागरण कार्यक्रम चलाता है। धर्म जागरण समिति हिंदू समाज में समन्वय, धर्मांतरण रोकथाम और सांस्कृतिक जागृति का कार्य करती है।

सीमा सुरक्षा और जागरण के क्षेत्र में सीमा जागरण मंच देश की सीमाओं पर रहने वाले नागरिकों को जागरूक करने, सीमा सुरक्षा बलों का समर्थन करने और सीमांत क्षेत्रों में राष्ट्रवादी भावना को मजबूत करने का कार्य करता है। सहकार भारती सहकारी आंदोलन को मजबूत बनाकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सशक्त करती है। कानूनी क्षेत्र में अधिवक्ता परिषद वकीलों को संघ की विचारधारा से जोड़कर राष्ट्रहित के मुद्दों पर काम करती है।

इस प्रकार संघ परिवार के ये प्रमुख संगठन शिक्षा, राजनीति, श्रम, कृषि, सेवा, साहित्य, साहित्यिक जागरण, सीमा सुरक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, अर्थव्यवस्था और युवा शक्ति के हर क्षेत्र को छूते हुए एक सशक्त, संगठित और आत्मनिर्भर भारत के निर्माण में निरंतर योगदान दे रहे हैं। ये सभी स्वायत्त रूप से कार्य करते हुए भी एक ही वैचारिक सूत्र में बंधे रहकर राष्ट्र सेवा का व्यापक जाल बुनते हैं।

अनुच्छेद 370 का आंदोलन: एकीकरण का सपना साकार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दृष्टि में अनुच्छेद 370 भारत की अखंडता और राष्ट्रीय एकता पर लगा एक गहरा घाव था। 1947 में देश की आजादी के समय जब सारा राष्ट्र एकात्मता की भावना से ओत-प्रोत था, तब जम्मू-कश्मीर को विशेष दर्जा देकर अलग-थलग रखने वाला यह प्रावधान दो-राष्ट्र सिद्धांत की बची हुई देन था। संघ ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया और शुरू से ही इसे हटाने के लिए निरंतर संघर्ष किया।

संघ की विचारधारा हमेशा से एक देश, एक विधान, एक प्रधान और एक राष्ट्रध्वज पर आधारित रही है। डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार और बाद में गुरुजी गोलवलकर जी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि भारत की कोई भी भूमि अलग नहीं रह सकती। 1950 के दशक में जब अनुच्छेद 370 को अस्थायी कहकर स्थायी बना दिया गया, तब संघ ने इसके विरुद्ध सबसे पहले और सबसे मजबूत आवाज उठाई।

डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी का संघर्ष संघ की प्रेरणा से ही संभव हुआ। उन्होंने जनसंघ की स्थापना कर "एक देश में दो विधान, दो प्रधान और दो निशान नहीं चलेंगे" का ऐतिहासिक नारा दिया। 1953 में कश्मीर सत्याग्रह के दौरान उनकी हिरासत में रहस्यमयी मृत्यु हो गई। संघ ने उनके बलिदान

को कभी नहीं भुलाया और इसे अनुच्छेद 370 हटाने के आंदोलन का प्रेरणा स्रोत बनाया।

दशकों तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, भारतीय जनता पार्टी और अन्य अनुषांगिक संगठनों ने सभाओं, शाखाओं, प्रचारकों के माध्यम से, रैलियों और जन-जागरण के द्वारा यह संदेश देश भर में फैलाया कि 370 भारत को कमजोर कर रहा है, अलगाववाद को पोषित कर रहा है और कश्मीरी हिंदू-भारतीयों को दूसरे दर्जे का नागरिक बना रखा है।

1990 के दशक में कश्मीरी पंडितों के नरसंहार और पाक प्रायोजित आतंकवाद ने संघ की चेतावनी को सत्य साबित किया। संघ परिवार के कार्यकर्ताओं ने लगातार संसद, सड़क और जनता के बीच यह मांग रखी कि जम्मू-कश्मीर को पूर्ण रूप से भारत में एकीकृत किया जाए।

5 अगस्त 2019 का दिन संघ के दृष्टिकोण में एक स्वर्णिम क्षण था। प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में केंद्र सरकार ने संसद के दोनों सदनों से प्रस्ताव पारित कर अनुच्छेद 370 और 35A को समाप्त कर दिया। जम्मू-कश्मीर को दो केंद्र शासित प्रदेशों में विभक्त किया गया। यह निर्णय दशकों के निरंतर संघर्ष, हजारों स्वयंसेवकों के समर्पण और राष्ट्रभक्ति का फल था।

संघ की दृष्टि में 370 हटना मात्र कानूनी कदम नहीं, बल्कि राष्ट्रीय एकीकरण की भावना का विजय उत्सव था। अब जम्मू-कश्मीर में भारतीय संविधान पूर्ण रूप से लागू हो गया है। विकास की नई गति आई है, आतंकवाद कम हुआ है, लोकतंत्र मजबूत हुआ है और सबसे महत्वपूर्ण बात — एक देश की एकता की भावना सुदृढ़ हुई है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि यह आंदोलन केवल कश्मीर तक सीमित नहीं था, बल्कि अखंड भारत की अवधारणा को साकार करने की दिशा में एक बड़ा कदम था। डॉ. मुखर्जी के सपने को साकार करते हुए आज जम्मू-कश्मीर भारत का अभिन्न अंग बन चुका है।

यह संघ की विचारधारा की जीत है कि जब राष्ट्रहित में दृढ़ संकल्प हो तो कोई भी बाधा स्थायी नहीं रह सकती है।

राम मंदिर का परिप्रेक्ष्य: सांस्कृतिक पुनरुत्थान

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दृष्टि में अयोध्या में भगवान श्री राम के मंदिर का निर्माण मात्र एक मंदिर का निर्माण नहीं, बल्कि हिंदू सांस्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्रीय चेतना की पुनर्प्रतिष्ठा है। सदियों से विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा मिटाए जाने वाले हिंदू मंदिरों, संस्कृति और गौरव के प्रतीक के रूप में राम मंदिर खड़ा है।

संघ की विचारधारा हमेशा से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर आधारित रही है। गुरुजी गोलवलकर और बाद के नेताओं ने बार-बार कहा कि भारत की आत्मा उसके मंदिरों, तीर्थों और सनातन परंपराओं में बसती है। जब 1980 के दशक में विश्व हिंदू परिषद ने राम जन्मभूमि आंदोलन को गति दी, तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इसे पूर्ण समर्थन दिया। संघ के स्वयंसेवकों, वीएचपी के कार्यकर्ताओं, बजरंग दल के युवाओं और लाखों आम हिंदू परिवारों ने इस आंदोलन को जन-आंदोलन बना दिया।

शिलान्यास, करसेवा और बलिदान की उस महागाथा में हजारों कार्यकर्ताओं ने प्राणों की आहुति दी। 6 दिसंबर 1992 को कारसेवकों द्वारा ढांचे के गिराए जाने के बाद देशव्यापी दमन झेला गया, फिर भी संघ परिवार ने संकल्प नहीं छोड़ा। दशकों तक चली कानूनी लड़ाई, जनजागरण यात्राएं, राम रथ यात्रा और निरंतर आंदोलन का परिणाम था कि 9 नवंबर 2019 को सर्वोच्च न्यायालय ने ऐतिहासिक फैसला सुनाया। 5 अगस्त 2020 को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के करकमलों से मंदिर का शिलान्यास हुआ और 22 जनवरी 2024 को प्राण-प्रतिष्ठा समारोह के साथ भव्य राम मंदिर साकार हुआ।

संघ की दृष्टि में राम मंदिर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रतीक है। यह उस मानसिक गुलामी को तोड़ने का क्षण है, जिसमें हम अपने देवताओं के जन्मस्थान पर भी मंदिर बनाने में संकोच करते थे। राम मंदिर केवल अयोध्या तक सीमित नहीं है — यह पूरे भारत के उन हजारों मंदिरों का प्रतीक है जिन्हें तोड़ा गया था। यह संदेश देता है कि हिंदू अब अपनी धरोहर को पुनः प्राप्त करने और संरक्षित करने के लिए सक्षम और संकल्पित है।

इस पुनरुत्थान ने हिंदू समाज में नई ऊर्जा, गौरव और एकता का संचार किया है। युवा पीढ़ी अब राम को केवल पूज्य

नहीं, बल्कि आदर्श पुरुष, मर्यादा पुरुषोत्तम और राष्ट्रनायक के रूप में देख रही है। राम मंदिर के साथ योग, आयुर्वेद, संस्कृत, भारतीय ज्ञान परंपरा और सनातन मूल्यों की ओर लौटने की लहर उठी है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि राम मंदिर भारत को अपनी जड़ों से जोड़ने वाला सेतु है। यह "वसुधैव कुटुम्बकम्" की सनातन भावना को मजबूत करते हुए आधुनिक भारत को सांस्कृतिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने का आधार है। जब पूरी दुनिया राम मंदिर को देख रही है, तब संघ परिवार इसे हिंदू जागरण का प्रारंभ मात्र मानता है।

राम लला अब अपने घर में विराजमान हैं। यह विजय केवल हिंदू समाज की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारत की सांस्कृतिक विजय है। यह साबित करता है कि जितनी भी बाधाएं आएं, सत्य और धर्म की अंततः विजय होती है।

पंच-परिवर्तन अभियान: शताब्दी का नया संकल्प

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दृष्टि में वर्ष 2025 संघ की शताब्दी का वर्ष है। यह मात्र संगठन की सौ वर्ष पूर्ति नहीं, बल्कि हिंदू समाज के पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय चेतना के नये अध्याय की शुरुआत है। पूज्य सरसंघचालक डॉ. मोहन भागवत जी के मार्गदर्शन में संघ ने शताब्दी वर्ष में पंच-परिवर्तन अभियान का संकल्प लिया है। यह अभियान समाज के पाँच प्रमुख क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन लाने का एक व्यवस्थित और दीर्घकालिक कार्यक्रम है।

पंच-परिवर्तन के पाँच स्तंभ हैं:

कुटुंब प्रबोधन — परिवार को पुनः उसके मूल स्वरूप में मजबूत बनाना। आधुनिकता के प्रभाव से टूटते पारिवारिक बंधनों को जोड़ना, संस्कारों का हस्तांतरण, माता-पिता और बच्चों के बीच सही संबंध स्थापित करना तथा परिवार को राष्ट्र-निर्माण का प्रथम केंद्र बनाना।

सामाजिक समरसता — समाज में जाति, वर्ग और क्षेत्रीय भेदभाव को मिटाकर "हम सब एक हैं" की भावना को मजबूत करना। छुआछूत, ऊँच-नीच की भावना का अंत और हिंदू समाज की एकात्मता को साकार करना।

पर्यावरण संरक्षण — प्रकृति माता के प्रति कृतज्ञता और संरक्षण की भावना जगाना। वृक्षारोपण, जल संरक्षण, नदियों का शुद्धीकरण और पर्यावरण अनुकूल जीवन शैली को अपनाना। संघ इसे मात्र पर्यावरण नहीं, बल्कि धर्म का अंग मानता है।

नागरिक कर्तव्य — हर व्यक्ति को अपने अधिकारों के साथ कर्तव्यों का बोध कराना। संविधान का आदर, कानून का पालन, राष्ट्रहित में योगदान, मतदान, स्वच्छता और सामाजिक उत्तरदायित्व को जीवन का अभिन्न अंग बनाना।

स्व का बोध — अपनी सनातन संस्कृति, स्वदेशी जीवन शैली, भाषा, भोजन, वस्त्र और विचारों में गर्व की भावना जगाना। पश्चिमी अंधानुकरण से मुक्त होकर आत्मनिर्भर और स्वाभिमानी भारत का निर्माण करना।

संघ की दृष्टि में ये पाँच परिवर्तन व्यक्ति से शुरू होकर समाज और राष्ट्र तक फैलने वाले हैं। शताब्दी वर्ष में लाखों स्वयंसेवक घर-घर जाकर, शाखाओं के माध्यम से और अनुषांगिक संगठनों के सहयोग से इस अभियान को जन-जन तक पहुँचा रहे हैं। यह आंदोलन किसी राजनीतिक कार्यक्रम की बजाय चरित्र निर्माण और समाज-निर्माण का अभियान है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मानना है कि शताब्दी का यह नया संकल्प भारत को विश्व गुरु बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। जब परिवार मजबूत होंगे, समाज समरस होगा, पर्यावरण सुरक्षित रहेगा, नागरिक जागरूक होंगे और 'स्व' का गौरव जगेगा, तभी सच्चा राष्ट्र-निर्माण संभव होगा।

पंच-परिवर्तन संघ का शताब्दी का अमृत संकल्प है– एक विकसित, आत्मनिर्भर, सांस्कृतिक रूप से जाग्रत और एकात्म भारत के निर्माण का मार्ग है। कुल मिलाकर, 'पंच-परिवर्तन' केवल एक विचार नहीं, बल्कि एक क्रियात्मक दृष्टि है— जो समाज के हर स्तर पर जागरूकता, सहभागिता और सकारात्मक बदलाव के माध्यम से एक सशक्त राष्ट्र के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने का आह्वान करती है।

शताब्दी का यह पड़ाव अंत नहीं, बल्कि एक नए चरण की शुरुआत है। यह यात्रा हर स्वयंसेवक, हर जागरूक नागरिक को एक संदेश देती है राष्ट्र सर्वोपरि है। इसी भाव के साथ संघ की यह सतत यात्रा आगे बढ़ रही है, जहां संगठन के माध्यम से समाज और समाज के माध्यम से राष्ट्र को सशक्त बनाने का प्रयास जारी है। ■

(लेखक लोक कला और संस्कृति के चिंतक हैं।)

संघ दृष्टि : "हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है"

इंदुशेखर तत्पुरुष

"In our country there are so many colleges of arts, but there are no colleges for hearts."

(पृष्ठ सं. 375, "डॉ. हेडगेवार चरित"– ना.ह. पालकर)

संघ स्थापना के आरंभिक वर्षों में कार्यकर्ताओं को संबोधित करते हुए संघ के संस्थापक डॉक्टर केशवराव हेडगेवार कहते हैं कि अपने देश में कला प्रशिक्षण के तो कई महाविद्यालय हैं, किन्तु हृदयों के प्रशिक्षण का कोई महाविद्यालय नहीं है। आगे वे अपनी आकांक्षा व्यक्त करते हैं कि यह कार्य अपना संघ करे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हृदयों के प्रशिक्षण का महाविद्यालय बने। डाक्टर साहब का यह उद्गार उनके हृदय का ही नहीं, संघ की कार्यपद्धति का भी दर्पण है। यह वाक्य संघ के मर्म को समझने की आधारभूत कुंजी है।

आज एक शताब्दी बाद यह जानना प्रासंगिक होगा कि क्या डॉ. हेडगेवार जी की वह आकांक्षा पूरी हुई? क्या आरएसएस देश में मानव हृदयों के प्रशिक्षण का महाविद्यालय बन सका? जाति, वर्ण, भाषा, भूगोल आदि की विविधताओं और विषमताओं से भरे भारतवर्ष में सभी को एक सूत्र में पिरोने में संघ कितना सफल हो सका?

आज यह प्रश्न इसलिए आवश्यक है कि एक ओर समाज में संघ की स्वीकार्यता निरंतर बढ़ती जा रही है, हर क्षेत्र में संघप्रेरित कार्यकर्ता आगे बढ़कर देश का नेतृत्व कर रहे हैं, तो दूसरी ओर संघ के विरोधी इसे न केवल सांप्रदायिक संगठन कहते रहे, जब तब इस पर प्रतिबंध लगाने की भी मांग करते रहे हैं। ऐसे में यह देखना प्रासंगिक होगा कि सत्य क्या है? इन सौ वर्षों में जब–जब देश और समाज पर संकट आया, कौन

जान हथेली पर रखकर आगे बढ़ा? भारतीय जनता ने किस पर भरोसा किया? संघ पर अथवा संघ की निंदा करने वालों पर?

इतिहास के झरोखे से देखें तो सन् 1925 में भारत में दो संगठनों की नींव रखी गई। एक था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जिसका आरम्भ एक जन्मजात देशभक्त युवक ने नागपुर में 15–20 स्थानीय नवयुवकों को साथ लेकर किया। दूसरा संगठन संसारभर में विख्यात हो चुकी कम्युनिस्ट पार्टी का था, जिसका गठन कानपुर में देश के विभिन्न प्रांतों से एकत्र हुए सैकड़ों प्रबुद्ध लोगों ने किया। सन् 1917 की रूस की क्रांति की कीर्ति के कारण कम्यूनिस्ट पार्टी आरंभ में ही देशभर में चर्चित हो गई थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तो रूस, चीन जैसी अंतरराष्ट्रीय महाशक्तियों का भी समर्थन इसको मिलने लगा था। देश के सभी प्रमुख संस्थानों पर साम्यवाद और समाजवाद की गहरी छाप थी। इधर संघ की बात करें तो आरंभिक वर्षों में नागपुर से बाहर इसे कोई जानता तक नहीं था। देश के स्वाधीन होने के बाद उस पर न केवल प्रतिबंध लगाया गया, सरकारों द्वारा संघ के कार्यकर्ताओं को निराधार लांछित और प्रताड़ित किया गया। किन्तु सबकी उपेक्षा और तिरस्कार झेलते हुए भी वे चुपचाप अपना कार्य करते रहे।

आज एक शताब्दी बाद जब हम दोनों संगठनों की स्थिति का आकलन करते हैं तो इनका अंतर स्वत: मुँह बोलता है। सारी दुनिया को बदलने का दावा करने वाले तथा देश में क्रांति करके सत्ता प्राप्ति का स्वप्न देखने वाले कम्युनिस्ट एक कौने में सिमटकर रह गए। जबकि आज देश का कोई ऐसा कौना नहीं, जहां संघ का वर्चस्व नहीं, संघ की उपस्थिति नहीं।

किसी संगठन की ऐसी असाधारण ऐतिहासिक उपलब्धि केवल और केवल जनता के हृदयों को जोड़ने से होती है। कोरी बौद्धिकता झाड़ने और सिद्धांत बघारने से वैचारिक हलचल तो हो सकती है, व्यक्ति नहीं जुड़ता। व्यक्ति के मन के तार नहीं जुड़ते। व्यक्ति जुड़ता है भरोसे से, प्रेमपूर्ण व्यवहार से, निस्वार्थ सेवा और समर्पण भाव से। इसलिए संघ सैद्धांतिक तर्क–वितर्क एवं शास्त्रार्थ के पचड़े में नहीं पड़ता। दिखावटी बौद्धिक वातावरण बनाने में शक्ति खर्च नहीं करता। उसका स्पष्ट ध्येय है व्यक्ति को संस्कारित करना, समाज की संगठित शक्ति खड़ा करना और समाज के बीच में प्रत्यक्ष उपस्थित होकर यथावश्यक कार्य करना। उसके असधारण कार्यविस्तार एवं व्यापक जनस्वीकृति का यही एकमात्र आधार था।

इतिहास साक्षी है कि जिन्होंने तथाकथित बौद्धिक क्रांतिकारी पैदा किए वे आपस में ही मार–काट में लग गए। स्वयं को प्रतिस्थापित करने में ही उनकी शक्ति चुक गई। किन्तु जिन्होंने हृदयों को जोड़ने की पाठशालाएं चलाई, समाज ने उन्हें अपने हृदय में बैठा लिया। व्यक्तियों को जोड़ने की वे छोटी–छोटी पाठशालाएं आज विश्वभर का व्यक्ति निर्माण का सबसे बड़ा विश्विद्यालय बन गया।

डॉक्टर हेडगेवार ने संघ प्रारंभ करते समय ही यह स्पष्ट कर दिया था कि वे संघ के माध्यम से न तो कोई नई विचारधारा खड़ी करना चाहते हैं, न किसी नए वाद का प्रवर्तन। वे उस भारतीय परंपरा को ही सुदृढ़ करना चाहते थे, जो देश में हजारों वर्षों से चली आ रही थी एवं भारत की मौलिक पहचान रही है। संघ में नया अगर कुछ था तो वह भारत के सनातन विचार को परिभाषित, प्रस्थापित एवं प्रसारित करने की कार्यप्रणाली थी। उसका युगानुरूप मैकेनिज्म और मैनेजमेंट था। उसका यंत्र–तंत्र नया था। मंत्र वही था, भारत का शाश्वत, सनातन धर्मबोध; जिसे हिंदू जीवनदृष्टि के रूप में देखा जाता हैं।

डॉ. केशवराव ने अपने समय और समाज का सूक्ष्म अध्ययन कर यह पाया कि भारत में आदिकाल से विद्यमान भारतीय लोग, जो कालान्तर में संसार में हिंदू नाम से प्रसिद्ध हुए, इस परम्परा के संवाहक रहे हैं। यह सभ्यता निर्मित हुई तो इन्हीं के उद्यम से और विकृत हुई तो इन्हीं के प्रमाद से। यूनानी, शक, हूण, कुषाण, अरबी, मुगल और अंग्रेजों से संघर्ष भी इसी हिन्दू समाज ने किया। आतताइयों के आघात भी सर्वाधिक इसी समुदाय ने झेले। जब तक यह हिंदू समाज अपने धर्म का पालन करता हुआ एकात्म रहा, भारतवर्ष ऐश्वर्य सम्पन्न रहा। सम्पूर्ण विश्व में इसकी कीर्ति पताका फहरती रही। किन्तु जब यह देश धर्मच्युत होकर भेदग्रस्त हो गया तो यह परकीयों का गुलाम होता चला गया। इसका सारा वैभव, गरिमा जाती रही। इतना ही नहीं, भारत के जिस–जिस क्षेत्र में हिन्दू समाज क्षीण अथवा दुर्बल हुआ, वह भूभाग इस विशाल राष्ट्र से या तो अलग हो गया अथवा वहां से अलगाव के स्वर फूटने लगे। भारत के जिस–जिस क्षेत्र में हिन्दू धर्म क्षीण हुआ, वही भूभाग इस विशाल राष्ट्र से या तो अलग हो गया अथवा वहाँ से अलगाव के स्वर फूटने लगे। अतः उनकी

यह दृढ़ मान्यता थी कि भारत में हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है एवं पराजित राष्ट्र के अभ्युदय का एकमात्र मार्ग हिन्दू संगठन है।

देखना यह है कि संघ द्वारा प्रतिपादित हिंदुत्व की अवधारणा क्या है?

डॉक्टर हेडगेवार जब यह मानते हैं कि, "हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है" तो उसका अर्थ है कि हिंदु चिंतन परंपरा ही भारत राष्ट्र की मूलचेतना है और इस चेतना को जाग्रत करना ही राष्ट्रीय जागरण कार्य है। इसीलिए उन्होंने हिन्दू समाज को संगठित और संस्कारित करने का बीड़ा उठाया।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि लोक में हिंदू धर्म के दो अभिप्राय प्रसिद्ध हैं। एक– संस्कृतिपरक, दूसरा– भक्तिपरक। संस्कृतिपरक का अर्थ है, हिन्दू जीवन पद्धति और भक्तिपरक का अर्थ है, हिन्दू उपासना पद्धति। संघ को यह संस्कृतिपरक अर्थ ही अभिप्रेत है। संघ दृष्टि में हिन्दू का उपासनापरक अर्थ, संस्कृतिपरक अर्थ में ही समाविष्ट है। यही कारण है कि संघ का हिंदुत्व बहुधा किसी धर्मगुरु अथवा किसी संप्रदाय के अधिष्ठाता अथवा किसी शंकराचार्य अथवा किसी राजनेता के द्वारा प्रतिपादित हिंदुत्व से कुछ भिन्न दिखाई पड़ता है। यह भिन्नता अनेक कारणों से होती है, जिनमें संस्कृतिपरक एवं उपासनापरक मंतव्यों की भिन्नता प्रमुख है।

इन्हीं भिन्नताओं के कारण संघ को न समझने वाले अथवा संघ के बढ़ते प्रभाव के कारण संघ से ईर्ष्या–द्वेष रखने वाले अथवा जिनकी रीति–नीति संघ के विपरीत है वे लोग संघ पर मिथ्या और मनगढ़ंत आरोप मंढते रहते हैं। संघ के प्रारंभ काल से ही उस पर यह लांछन लगाया जाता रहा है कि संघ हिंदुओं का एक सांप्रदायिक संगठन है जो अहिंदुओं, विशेषकर मुसलमानों और ईसाइयों के विरोध में तत्पर रहता है। यद्यपि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कभी किसी संप्रदाय, मत या मजहब के प्रतिपक्ष में नहीं रहा, जैसा कि कुछ लोगों को अक्सर और कुछ लोगों को पहली नजर में प्रतीत होता है। हां, यह राष्ट्रविरोधी गतिविधियों और नीतियों के विरुद्ध अवश्य रहा है। अतः इस बात पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए कि संघ द्वारा अंगीकृत हिंदुत्व का विचार किसी की भी प्रतिक्रिया में नहीं, अपितु "सर्वेषाम् अविरोधेन" की स्वस्थ प्रेरणा से निष्पन्न है।

विचारणीय है कि हिंदुत्व का आग्रह यदि किसी प्रतिक्रिया

स्वरूप हुआ होता तो इसे बहुत पहले –19वीं शताब्दी से बहुत पहले– ही प्रकाश में आ जाना चाहिए था। उस कालखंड में भी हिन्दू समाज पर कम अत्याचार नहीं हुए। जजिया कर, बलात् कन्वर्जन, मंदिरों का विध्वंस होता ही रहा था। उस कालखंड में भी हिंदू समाज को दिशा और गति देने के प्रयास होते रहे, किंतु अपनी पहचान को इस तरह सुपरिभाषित करने, उसे "हिंदुत्व" जैसा नाम देने की चेष्टा कभी नहीं हुई। इस पर विचार करें तो हम पाएंगे कि तब संघर्ष अधिकतर राजनैतिक और किंचित् सामाजिक स्तर पर ही था। उस स्तर का सांस्कृतिक संघर्ष नहीं था कि अपनी पहचान का संकट खड़ा हो जाए। अरब–मुग़ल आक्रमण के समय भी हिन्दुओं का इस्लाम से वैसा संघर्ष नहीं हुआ, जैसा अंग्रेजी राज में था। यह बात ध्यान रखने की है कि उस समय हिंदू शासकों का तो मुस्लिम सत्ता से संघर्ष हुआ पर जन सामान्य का इस्लाम से वैसा संघर्ष नहीं हुआ। भारत में मुसलमानों का आधिपत्य रहा पर इस्लाम का वर्चस्व नहीं रह पाया। मज़हबी अत्याचार भी भारत के मजबूत सांस्कृतिक–सामाजिक ढाँचे की टक्कर में हिन्दू परम्परा और पहचान को नष्ट नहीं कर सके। हिन्दुओं के सांस्कृतिक जीवन की धुरी नहीं बदली थी।

किंतु इधर 19वीं और 20वीं शताब्दी के मध्य अंग्रेजी राज के साथ आधुनिकतावाद, मानववाद, भौतिकवाद, समाजवाद, साम्यवाद, व्यक्तिवाद, राजनैतिक राष्ट्रवाद, वैज्ञानिकतावाद आदि पश्चिमी विचारों और यूरोपीय शिक्षा ने भारत के सम्मुख जो चुनौतियाँ खड़ी की उनके प्रतिकार स्वरूप भारत की समग्र मेधा को एक वैचारिक अधिष्ठान की आवश्यकता हुई। इधर मुसलमानों के वे दुराग्रह जो अब तक सांस्कृतिक दृष्टि से चुनौती नहीं बने थे, –अपितु भारत में इस्लाम का भारतीयकरण भी होने लगा था– अब अंग्रेजों के उकसावे में आकर विकृत रूप में प्रकट होने लगे थे। अतः आक्रामक अंग्रेजी राज, इस्लाम, इसाईयत, पश्चिमी भौतिकवाद आदि के समवेत आक्रमण के प्रतिकार में, –उन सभी दुराग्रहों के प्रतिकार स्वरूप जो भारतीय जीवनदृष्टि के प्रतिकूल थे– हिंदुत्व का आग्रह अपरिहार्य होता चला गया। भारतीय नायकों ने तात्कालीन सभी चुनौतियों का सटीक उत्तर जिस आधार पर दिया, वह हिंदुत्व ही था। अंग्रेजों के सर्वंकष वर्चस्व से आहत भारतीया मनीषा ने स्वयं को स्थापित और सुपरिभाषित करने के लिए हिंदुत्व को अपना मूलस्वर बनाया। महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानंद, बालगंगाधर तिलक, महर्षि अरविंद, विनायक सावरकर, डॉ. केशव राव हेडगेवार आदि के प्रयास इसी शृंखला की भिन्न-भिन्न कड़ियाँ है। इनके प्रयासों के नाम भले ही कुछ भी रहे हों, मूल में हिन्दू दृष्टि ही थी।

जब तक हम इस बात को नहीं जान लेते संघ के हिंदुत्व दर्शन को हम ठीक से नहीं समझ सकते। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिंदुत्व केवल हिंदुओं के लिए नहीं अपितु संपूर्ण राष्ट्र के लिए है। बल्कि राष्ट्र से भी आगे संपूर्ण विश्व के लिए है। हिंदुत्व की अवधारणा सर्वसमावेशी और सर्वस्पर्शी है। इसलिए हिंदू राष्ट्र का विचार न मुस्लिम संप्रदाय के विरुद्ध है, न इसाईयों के और न ही किसी अन्य संप्रदाय के। यही नहीं यह किसी नास्तिक मत के विरोध में भी नहीं है। किन्तु संघ विरोधी लोगों द्वारा इस ठोस यथार्थ की अनदेखी कर, प्रतिक्रियावादी राजनैतिक लोगों के वक्तव्यों को आधार बना कर संघ के प्रति निरंतर मिथ्या प्रवाद फैलाया जाता है। आज जब संघ पूज्य सरसंघचालक डॉ. मोहनराव जी भागवत सबका डीएनए एक होने की बात कहते हैं, तो संघ विचार से अनभिज्ञ लोग इसे आश्चर्य से देखते हैं और इसमें राजनीति खोजने का प्रयास करते हैं। इधर कुछ लोग इसमें संघ के मूल सिद्धांतों में विचलन की आशंकाएं प्रकट करते हैं। और यह समस्या आज की नहीं, तब से है, जब से संघ प्रारम्भ हुआ है। किन्तु संघतत्व के प्रामाणिक व्याख्याकार श्रीगुरुजी इस प्रकार की आशंकाओं को मूर्खतापूर्ण और घातक मानते हैं। ऐसे प्रश्नों का जो उत्तर उन्होंने तब दिया, संघ का आज भी वही उत्तर है। गुरुजी कहते हैं–

"....कुछ लोगों का अनुमान है कि हिंदू राष्ट्र की हमारी कल्पना मुसलमान और ईसाई नागरिकों के अस्तित्व के लिए चुनौती है। वह निकाल बाहर किए जाएंगे तथा उनका उन्मूलन हो जाएगा। हमारी राष्ट्रीय भावना के लिए इससे अधिक मूर्खतापूर्ण अथवा घातक और कुछ नहीं हो सकता यह तो हमारे महान् एवं सर्वग्राही सांस्कृतिक दाय का अपमान है।" (पृष्ठ सं. 132, "विचार नवनीत"– ज्ञान गंगा प्रकाशन, जयपुर)

हिंदुत्व के प्रतिक्रियावादी और विरोधमूलक स्वरूप के प्रति गुरुजी सदैव सचेत रहे। संघ शिक्षा वर्ग–1969 के

एक बौद्धिक में वे कहते हैं– "हम हिंदू क्यों हैं? ईसाई नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, इसलिए हिंदू हैं क्या? ऐसा नकारात्मक विचार रहा तब संगठन की कोई आवश्यकता नहीं। इस हिंदू शब्द का कोई ठोस अर्थ है क्या? इसका विचार करेंगे तभी संगठन करने की प्रेरणा मिलेगी।(पृष्ठ सं. 261, "श्री गुरुजी समग्र"– खंड 4)

आज हम अपने इतस्तत: कुछ दिखावटी और बनावटी हिंदुओं को भी देखते हैं जो किन्हीं स्वार्थों के कारण स्वयं को कुछ अधिक कट्टर हिंदू प्रदर्शित करते हैं। इनके मनोभावों का सटीक विश्लेषण करते हुए कार्यकर्ताओं की एक बैठक में श्रीगुरुजी कहते हैं– "जो अपने आप को कट्टर हिंदू कहते हैं उनकी भावना का भी यदि हम विश्लेषण करें तो बड़ी विचित्र स्थिति दिखाई पड़ती है। हिंदू हमारा उपनाम मात्र बन गया है। हिंदू याने पॉलिटिकल हिंदू , मुसलमान के खिलाफ बोलने वाला हिंदू, ईसाइयों के विरोध में प्रचार करने वाला हिंदू। हिंदू का यह नकारात्मक रूप ठीक नहीं है। हिंदुत्व की अनुभूति हमें अपनी आत्मा में होनी चाहिए। प्रतिक्रियात्मक हिंदू किसी भी काम का नहीं।... (पृष्ठ सं. 135, "श्री गुरुजी समग्र"– खंड 3)

वस्तुतः हिंदू राष्ट्र को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दो स्पष्ट मत हैं। प्रथम यह कि भारत सनातन हिंदू राष्ट्र है। हजारों वर्ष पूर्व अपने गौरवकाल में भी यह हिंदू राष्ट्र था, अपने राजनैतिक पराभव और परतंत्रता के काल में भी यह हिंदू राष्ट्र ही रहा और आज भी यह हिंदू राष्ट्र है। किसी राज्य की घोषणा के कारण नहीं, भारत अपने स्वभाव से हिन्दू राष्ट्र है। जब मन्दिर तोड़े जा रहे थे, हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया जा रहा था तब भी यह हिन्दू राष्ट्र था, अंग्रेजों की अधीनता के काल में भी यह हिन्दू राष्ट्र था। और आज जब देश स्वाधीन है, तब भी यह हिन्दू राष्ट्र है। राजनैतिक सामर्थ्य की दृष्टि से भले ही यह कभी सबल, कभी निर्बल रहा हो। राज्य के प्रचलित अर्थों में धर्मनिरपेक्ष अथवा धर्मविरोधी होने पर भी इसका हिन्दू राष्ट्र का स्वरूप तब तक अक्षुण्ण है, जब तक इसका अधिसंख्यक समाज हिन्दू परम्परा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। हिन्दू राष्ट्र के संबंध में संघ का यही निर्भ्रांत मत है। जो सदियों से एक सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में चलता आ रहा राष्ट्र है, उसे क्या बनाना? और क्यों बनाना? उसे तो स्वीकार करने की जरूरत है।

दूसरा संघ द्वारा प्रतिपादित हिंदुत्व पूर्णतया संधायात्मक, सर्वस्पर्शी एवं सर्वमावेशी है। प्रतिक्रियात्मक नहीं। भारत का हिंदुत्व केवल भारत के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए है। आज परस्पर संघर्ष और प्रतिशोध के दावानल में झुलसते हुए विश्व को हिंदुत्व की दृष्टि ही सहअस्तित्व और समरसता का पाठ पढ़ाती हुई शांति और समृद्धि का मार्ग दिखाने में समर्थ है। हिंदुत्व ही सर्वमंगल एवं सर्वतोभद्र की कामना का चिरंतन स्वर है। ■

'सूर्योदय', 38 आनंद नगर, सिरसी रोड,
जयपुर–302012
मो. 8387062611

पंच परिवर्तन: राष्ट्र जागरण से वैश्विक प्रासंगिकता तक

डॉ. शिवेश प्रताप

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने शताब्दी सोपान पर आ खड़ा हुआ है, एवं “पंच परिवर्तन” के माध्यम से एक परिवर्तनकारी सामाजिक दृष्टि प्रस्तुत कर रहा है। यह ढांचा सामाजिक समरसता, परिवार सुदृढ़ीकरण, पर्यावरण संरक्षण, स्वदेशी आत्मनिर्भरता और नागरिक कर्तव्य को राष्ट्रीय पुनरुत्थान के प्रमुख स्तंभों के रूप में स्थापित करता है। आइये समझते हैं कि पंच परिवर्तन केवल एक सांस्कृतिक पहल नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक विकास का मॉडल है, जो संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) के साथ गहराई से सामंजस्य स्थापित करता है। यह दर्शाता है कि स्थानीय स्तर पर होने वाला व्यवहारिक परिवर्तन किस प्रकार वैश्विक नीतिगत ढांचों को पूरक बनाते हुए सतत विकास के लिए एक स्केलेबल मॉडल प्रदान कर सकता है।

पंच परिवर्तन को संघ द्वारा 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर एक जन-आंदोलन के रूप में परिकल्पित किया गया है। इसका उद्देश्य केवल नीतिगत बदलाव नहीं, बल्कि व्यक्ति के आचरण, परिवार की संरचना, सामाजिक संबंधों और राष्ट्रीय चेतना में समग्र परिवर्तन लाना है। यह पहल विकास को समाज के भीतर से उत्पन्न होने वाली प्रक्रिया के रूप में देखती है, जहां मूल्य और व्यवहार परिवर्तन के प्रमुख वाहक बनते हैं। नीति-आधारित विकास मॉडलों के विपरीत, पंच परिवर्तन समाज में मूल्यों के आंतरिककरण पर बल देता है। यही विशेषता इसे उन कार्यान्वयन चुनौतियों को संबोधित करने में सक्षम बनाती है, जो अक्सर वैश्विक ढांचों जैसे SDGs में देखने को मिलती हैं।

संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य गरीबी, असमानता, पर्यावरण और सुशासन जैसे मुद्दों पर केंद्रित 17 लक्ष्यों का एक वैश्विक खाका प्रस्तुत करते हैं। हालांकि, इन लक्ष्यों की प्राप्ति में सबसे बड़ी चुनौती जमीनी स्तर पर व्यवहारिक परिवर्तन की है, जिसे पंच परिवर्तन सीधे रूप से समाधान प्रस्तुत करता दिखाई देता है।

वैचारिक रूपरेखा

पंच परिवर्तन का ढांचा इस मूल विचार पर आधारित है कि सतत राष्ट्रीय विकास केवल नीतिगत हस्तक्षेपों से नहीं, बल्कि गहन सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न होना चाहिए। यह पांच परस्पर संबंधित परिवर्तन आयामों को प्रस्तुत करता है, जो सामूहिक रूप से व्यक्ति के व्यवहार, सामाजिक संरचनाओं और राष्ट्रीय चेतना को पुनर्परिभाषित करने का उद्देश्य रखते हैं। ये परिवर्तन—सामाजिक समरसता, परिवार सुदृढ़ीकरण, पर्यावरण संरक्षण, स्वदेशी आत्मनिर्भरता और नागरिक कर्तव्य, एक सशक्त, एकजुट और भविष्य-उन्मुख समाज के निर्माण के आधारभूत स्तंभ हैं।

सामाजिक समरसता

पंच परिवर्तन के अंतर्गत सामाजिक समरसता का उद्देश्य जाति, क्षेत्र, भाषा और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के आधार पर मौजूद गहरे विभाजनों को समाप्त कर समाज में एकता और बंधुत्व को बढ़ावा देना है। यह इस बात पर बल देता है कि वास्तविक समावेशन नीतिगत थोपने से नहीं, बल्कि व्यवहारिक जीवन में परस्पर सम्मान और सहयोग से प्राप्त होता है।

इस संदर्भ में सामाजिक समरसता, संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है, विशेष रूप से SDG 10 (असमानताओं में कमी) और SDG 16 (शांति, न्याय और सशक्त संस्थान) के साथ। ये दोनों लक्ष्य समावेशी, न्यायसंगत और शांतिपूर्ण समाज के निर्माण पर केंद्रित हैं। जमीनी स्तर पर सामाजिक एकजुटता को बढ़ावा देकर और संरचनात्मक भेदभाव को कम करके यह परिवर्तन मजबूत संस्थाओं और सहभागी शासन के लिए आवश्यक सामाजिक पूंजी को सुदृढ़ करता है। इस प्रकार, पंच परिवर्तन दैनिक सामाजिक व्यवहार में समानता और न्याय को स्थापित करते हुए इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक सांस्कृतिक और व्यवहारिक मार्ग प्रदान करता है।

कुटुंब प्रबोधन

परिवार सुदृढ़ीकरण समाज की मूल इकाई के रूप में परिवार की केंद्रीय भूमिका को रेखांकित करता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी नैतिक मूल्यों, भावनात्मक संतुलन और सामाजिक जिम्मेदारी का विकास करता है। तीव्र शहरीकरण और सामाजिक विखंडन के इस दौर में परिवार व्यवस्था को सुदृढ़ करना सामाजिक स्थिरता और निरंतरता के लिए अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

यह परिवर्तन संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों, विशेष रूप से SDG 3 (स्वास्थ्य और कल्याण), SDG 4 (गुणवत्तापूर्ण शिक्षा) और SDG 5 (लैंगिक समानता)से सीधे जुड़ा हुआ है। सुदृढ़ पारिवारिक वातावरण मानसिक स्वास्थ्य, शैक्षिक सहयोग और लैंगिक संवेदनशीलता को बढ़ावा देता है। पारिवारिक भूमिकाओं में संतुलन और अंतः पीढ़ी मूल्यों को सशक्त करके, कुटुंब प्रबोधन सूक्ष्म स्तर पर मानव विकास को सुदृढ़ करता है, जो व्यापक स्तर पर स्वास्थ्य, शिक्षा और समानता से जुड़े लक्ष्यों की प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

पर्यावरण संरक्षण

पंच परिवर्तन के अंतर्गत पर्यावरण संरक्षण सतत और प्रकृति-केंद्रित जीवनशैली की ओर एक बदलाव का समर्थन करता है, जो पारंपरिक पारिस्थितिक चेतना में निहित है। यह जिम्मेदार उपभोग, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण और मानव तथा प्रकृति के बीच संतुलित संबंध पर बल देता है। यह परिवर्तन संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों, विशेष रूप से SDG 12 (जिम्मेदार उपभोग और उत्पादन), SDG 13 (जलवायु कार्रवाई) और SDG 15 (स्थलीय जीवन)के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है, जो पर्यावरणीय क्षरण और जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए त्वरित कदमों की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं।

दैनिक जीवन में पर्यावरण-अनुकूल आदतों को अपनाने के लिए व्यक्तियों और समुदायों को प्रेरित करके, पंच परिवर्तन वैश्विक सतत विकास प्रयासों की एक महत्वपूर्ण कमी, व्यवहारिक परिवर्तन को संबोधित करता है। यह पर्यावरणीय जिम्मेदारी को केवल नीतिगत अनिवार्यता से आगे बढ़ाकर एक सामाजिक आचरण और नैतिकता में परिवर्तित करता है, जिससे SDG आधारित पर्यावरणीय पहलों की प्रभावशीलता और अधिक सुदृढ़ होती है।

स्वदेशी/आत्मनिर्भरता

पंच परिवर्तन के अंतर्गत स्वदेशी का सिद्धांत स्थानीय उत्पादन, स्वदेशी उद्योगों और विकेंद्रीकृत आर्थिक प्रणालियों को प्राथमिकता देकर आर्थिक आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देता है। इसका उद्देश्य मजबूत आपूर्ति श्रृंखलाओं का निर्माण करना और वैश्विक आर्थिक उतार-चढ़ाव पर अत्यधिक निर्भरता को कम करना है, जिससे राष्ट्रीय आर्थिक संप्रभुता सुदृढ़ होती है।

यह परिवर्तन संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों—विशेष रूप से SDG 8 (सम्मानजनक कार्य और आर्थिक विकास) और SDG 9 (उद्योग, नवाचार और अवसंरचना)के अनुरूप है, जो सतत आर्थिक वृद्धि, रोजगार सृजन और औद्योगिक नवाचार पर बल देते हैं। स्थानीय उद्यमिता, कौशल विकास और स्वदेशी उत्पादों के उपयोग को प्रोत्साहित करके, स्वदेशी समावेशी आर्थिक विकास को बढ़ावा देता है और वैश्विक व्यवधानों के प्रति लचीलापन भी सुदृढ़ करता है। यह एक ऐसा मॉडल प्रस्तुत करता है जिसमें आर्थिक प्रगति केवल वृद्धि-उन्मुख नहीं, बल्कि समुदाय-केंद्रित और सतत भी होती है।

नागरिक कर्तव्य

नागरिक कर्तव्य राष्ट्र-निर्माण में जिम्मेदार और सहभागी नागरिकता की भूमिका पर बल देता है, जिसमें व्यक्तियों को शासन, जनकल्याण और सामाजिक अनुशासन में सक्रिय योगदान के लिए प्रेरित किया जाता है। यह इस तथ्य को रेखांकित करता है कि सतत विकास केवल सरकारों की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि इसके लिए सभी स्तरों पर नागरिकों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है।

यह परिवर्तन संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों विशेष रूप से SDG 11 (सतत शहर और समुदाय) और SDG 17 (लक्ष्यों के लिए साझेदारी) के साथ संबद्ध है, जो सामूहिक प्रयास और बहु-हितधारक सहयोग के महत्व को रेखांकित करते हैं। जवाबदेही, स्वयंसेवा और नागरिक सहभागिता की भावना को विकसित करके, नागरिक कर्तव्य लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और सामुदायिक लचीलापन को सुदृढ़ करता है। यह नागरिकों को निष्क्रिय लाभार्थियों से सक्रिय भागीदारों में परिवर्तित करता है, जिससे जमीनी स्तर पर SDG पहलों के कार्यान्वयन की क्षमता बढ़ती है।

ये पांचों परिवर्तन मिलकर एक समग्र और एकीकृत

सामाजिक ढांचा प्रस्तुत करते हैं, जो व्यक्तिगत व्यवहार को राष्ट्रीय विकास और वैश्विक सततता लक्ष्यों से जोड़ता है। इस प्रकार, पंच परिवर्तन एक विशिष्ट स्वदेशी मॉडल के रूप में उभरता है, जो संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों का पूरक बनते हुए एक "बॉटम-अप" दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जहां सांस्कृतिक मूल्य और सामाजिक नैतिकता वैश्विक विकास लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रेरक तत्व बनते हैं।

4. जमीनी स्तर पर कार्यान्वयन मॉडल के रूप में पंच परिवर्तन

वैश्विक और संस्थागत स्तर पर संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) के प्रति मजबूत प्रतिबद्धता के बावजूद, इनके जमीनी क्रियान्वयन में अभी भी संरचनात्मक और व्यवहारिक चुनौतियाँ बनी हुई हैं।

पंच परिवर्तन इस महत्वपूर्ण अंतर को इस प्रकार संबोधित करता है कि यह जिम्मेदारी का केंद्र संस्थाओं से हटाकर व्यक्तियों और समुदायों की ओर स्थानांतरित करता है। यह विकास प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण करते हुए नागरिकों को सतत मूल्यों को आत्मसात करने के लिए प्रेरित करता है, जिससे विकास में सांस्कृतिक स्वामित्व विकसित होता है। केवल नियामक प्रवर्तन पर निर्भर रहने के बजाय, यह नैतिक प्रेरणा और सामाजिक चेतना पर आधारित स्वैच्छिक भागीदारी को बढ़ावा देता है। यह "बॉटम-अप" दृष्टिकोण SDGs के क्रियान्वयन को अधिक प्रभावी बनाता है, क्योंकि यह विकास लक्ष्यों को समाज के दैनिक जीवन का हिस्सा बना देता है, जिससे सततता एक साझा सामाजिक मिशन बन जाती है, न कि केवल एक दूरस्थ नीतिगत उद्देश्य।

व्यवहारिक अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण

समकालीन विकास विमर्श, विशेषकर व्यावहारिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, "व्यवहार आधारित शासन" (nudge-based governance) और समुदाय-आधारित परिवर्तन को दीर्घकालिक सामाजिक बदलाव के प्रभावी उपकरण के रूप में मान्यता दी गई है। पंच परिवर्तन एक सांस्कृतिक "प्रेरक" तंत्र के रूप में कार्य करता है, जो बिना किसी दबाव के व्यक्तियों और समुदायों को सतत व्यवहार अपनाने के लिए प्रेरित करता है।

यह सततता के सिद्धांतों को दैनिक आदतों, सांस्कृतिक प्रथाओं और सामाजिक मानदंडों में समाहित करता है, जिससे विकास को बाहरी थोपने के बजाय सामाजिक मूल्यों का स्वाभाविक विस्तार माना जाता है। यह दृष्टिकोण इस वैश्विक समझ के अनुरूप है कि बड़े पैमाने पर विकास लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यवहारिक परिवर्तन अनिवार्य है। नैतिक जीवन, सामूहिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक निरंतरता पर बल देकर, पंच परिवर्तन अमूर्त वैश्विक लक्ष्यों को ठोस दैनिक क्रियाओं में परिवर्तित करता है, जिससे SDGs की सफलता के लिए आवश्यक जमीनी आधार सुदृढ़ होता है।

वैश्विक कल्याण के लिए भारत का मॉडल

संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि सतत विकास आर्थिक वृद्धि, सामाजिक समावेशन और पर्यावरण संरक्षण के संतुलित एकीकरण पर आधारित होना चाहिए। इस संदर्भ में, पंच परिवर्तन भारत की सांस्कृतिक दृष्टि में निहित एक विशिष्ट और वैश्विक रूप से प्रासंगिक ढांचा प्रस्तुत करता है। यह एक गैर-पश्चिमी, सांस्कृतिक रूप से आधारित विकास मॉडल है, जो नीतिगत उपायों से आगे बढ़कर सामाजिक मूल्यों और व्यवहारिक परिवर्तन पर बल देता है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में पंच परिवर्तन की प्रासंगिकता और भी स्पष्ट हो जाती है। इसकी सामाजिक समरसता पर आधारित दृष्टि विश्वभर में बढ़ते ध्रुवीकरण और पहचान-आधारित संघर्षों के लिए एक रचनात्मक समाधान प्रस्तुत करती है। परिवार सुदृढ़ीकरण पर इसका जोर मानसिक स्वास्थ्य संकट और सामाजिक विखंडन के दौर में स्थिरता प्रदान करता है। स्वदेशी का सिद्धांत अनिश्चित वैश्विक व्यवस्था में स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं और आपूर्ति श्रृंखलाओं को मजबूत करने की आवश्यकता के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त, पर्यावरणीय चेतना जमीनी स्तर पर सतत जीवनशैली को बढ़ावा देकर वैश्विक जलवायु प्रतिबद्धताओं को सुदृढ़ करती है। इस प्रकार, पंच परिवर्तन यह दर्शाता है कि स्वदेशी ज्ञान प्रणालियाँ और सांस्कृतिक ढांचे वैश्विक विकास विमर्श में सार्थक योगदान दे सकते हैं, और भारत को केवल एक सहभागी ही नहीं, बल्कि एक विचार-नेता के रूप में स्थापित करते हैं।

इस मॉडल की विशेष शक्ति भारत की जनसंख्या और सामाजिक संरचना में निहित है। लगभग 1.46 अरब की जनसंख्या के साथ भारत विश्व का सबसे बड़ा मानव समूह है, जो व्यवहारिक परिवर्तन के लिए अभूतपूर्व अवसर प्रदान करता है। लगभग 27 प्रतिशत जनसंख्या 15–29 आयु वर्ग

में है, जबकि लगभग 65 प्रतिशत जनसंख्या 35 वर्ष से कम आयु की है, जो इसे विश्व की सबसे युवा समाजों में से एक बनाती है। लगभग 59 प्रतिशत की श्रम बल भागीदारी दर और 57 प्रतिशत के आसपास कार्यकर्ता अनुपात, बड़े पैमाने पर सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की क्षमता को दर्शाते हैं। वहीं, 42–46 प्रतिशत कार्यबल का कृषि पर निर्भर होना जमीनी और सामुदायिक स्तर पर परिवर्तन की आवश्यकता को और अधिक रेखांकित करता है।

भारत की व्यापक सामाजिक विविधता भी इस मॉडल को सशक्त बनाती है। हजारों समुदायों, भाषाओं और सांस्कृतिक परंपराओं के साथ भारत विश्व के सबसे जटिल सामाजिक पारिस्थितिकी तंत्रों में से एक है। जब इस विविधता को एक साझा सांस्कृतिक दृष्टिकोण के साथ जोड़ा जाता है, तो यह विभिन्न सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में समावेशी विकास मॉडलों के निर्माण, परीक्षण और विस्तार को संभव बनाता है।

पंच परिवर्तन की वैश्विक प्रासंगिकता इसके “स्केल-इफेक्ट मल्टीप्लायर” में निहित है। यदि भारत की जनसंख्या का एक छोटा हिस्सा भी सतत व्यवहार अपनाता है, तो यह करोड़ों लोगों के माध्यम से जलवायु परिवर्तन, उपभोग पैटर्न, सामाजिक समरसता और नागरिक जिम्मेदारी जैसे वैश्विक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है। संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों की दिशा में प्रगति को आगे बढ़ाते हुए, यह जन-आंदोलन जमीनी स्तर पर स्वामित्व को मजबूत करता है और विशेष रूप से वैश्विक दक्षिण के देशों के लिए एक अनुकरणीय मॉडल प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, भारत एक मानव-केंद्रित विकास के जीवंत प्रयोगशाला के रूप में उभरता है, जो यह दर्शाता है कि जनसांख्यिकीय शक्ति, सांस्कृतिक पूंजी और नागरिक-नेतृत्व वाली पहल किस प्रकार राज्य-नीतियों के साथ मिलकर एक अधिक सतत और सहयोगात्मक वैश्विक भविष्य का निर्माण कर सकती हैं।

स्थानीय मूल्य, वैश्विक प्रभाव

पंच परिवर्तन यह सशक्त रूप से दर्शाता है कि वैश्विक विकास ढांचे तब तक अपने अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक वे स्थानीय मूल्यों और सामाजिक व्यवहार में गहराई से निहित न हों। जहाँ संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य (SDGs) विश्व की प्रमुख चुनौतियों के समाधान हेतु एक व्यापक नीतिगत ढांचा प्रस्तुत करते हैं, वहीं उनकी सफलता अंततः इस बात पर निर्भर करती है कि ये लक्ष्य जमीनी स्तर पर कितनी प्रभावी रूप से आत्मसात किए जाते हैं। इस संदर्भ में, पंच परिवर्तन एक महत्वपूर्ण सूक्ष्म-सामाजिक तंत्र के रूप में कार्य करता है, जो अमूर्त वैश्विक प्रतिबद्धताओं को वास्तविक जीवन में लागू करता है। सामाजिक समरसता, पारिवारिक जिम्मेदारी, पर्यावरणीय चेतना, स्वदेशी आत्मनिर्भरता और नागरिक कर्तव्य जैसे सिद्धांतों को दैनिक जीवन में समाहित करके यह नीति और समाज के बीच की खाई को पाटता है।

इन दोनों ढांचों का समन्वय सतत विकास की प्रकृति के बारे में एक गहन समझ प्रस्तुत करता है। यह केवल तकनीकी या नीतिगत लक्ष्य नहीं, बल्कि एक सभ्यतागत प्रक्रिया है, जो मानव व्यवहार, सांस्कृतिक निरंतरता और सामूहिक चेतना पर आधारित है। विकास वास्तव में तभी सतत बनता है, जब वह व्यक्तियों और समुदायों के स्वाभाविक आचरण का हिस्सा बन जाए, न कि केवल बाहरी नियमों के माध्यम से लागू किया जाए। इस दृष्टि से, पंच परिवर्तन विकास की अवधारणा को अनुपालन (compliance) से आगे बढ़ाकर आंतरिक प्रतिबद्धता (conviction) तक ले जाता है, और इसे एक साझा नैतिक एवं सांस्कृतिक उत्तरदायित्व में परिवर्तित करता है।

स्वदेशी दर्शन को वैश्विक रूप से स्वीकृत ढांचों के साथ जोड़ते हुए, भारत एक ऐसे महत्वपूर्ण मोड़ पर खड़ा है, जहाँ वह अंतरराष्ट्रीय विकास विमर्श में केवल एक सहभागी नहीं, बल्कि एक विचार-नेता की भूमिका निभा सकता है। पंच परिवर्तन एक ऐसा मॉडल प्रस्तुत करता है, जिसमें परंपरा और आधुनिकता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। यह विश्व को एक ऐसा मार्ग प्रदान करता है, जो सतत होने के साथ-साथ गहराई से मानव-केंद्रित भी है। जैसे-जैसे वैश्विक चुनौतियाँ अधिक जटिल होती जा रही हैं, ऐसे समन्वित दृष्टिकोण, जो सांस्कृतिक ज्ञान और सामूहिक सहभागिता पर आधारित हों, भविष्य में सतत विकास की दिशा निर्धारित करने में निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। ■

BTech(E&C), MBA(HR), PhD(h.c.), IIM Calcutta Alumnus
Sr. Fellow, SPMRF, New Delhi
Convenor, Vision Viksit Bharat Policy & Research Centre
Mob: 8750091725, Mail: shiveshemail@gmail.com

भारत-विभाजन के समय स्वयंसेवकों की भूमिका

डॉ दिवाकर राय

देश विभाजन को लगभग अस्सी वर्ष होने वाले हैं। इस अवधि में चार पीढ़ियाँ सामने आ चुकी हैं। उस समय के प्रत्यक्षदर्शी अब शायद ही बचे हों, इसलिए नयी पीढ़ी को इस बात को बताने वाला भी कोई नहीं है। इस बीच राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर यह आरोप लगाया जाता है कि संघ की देश की आजादी में कोई भूमिका नहीं थी। जबकि सच्चाई यह है कि संघ के संस्थापक डॉ केशव बलिराम हेडगेवार स्वयं एक स्वतंत्रता सेनानी थे और अँगरेजी हुकूमत के खिलाफ विभिन्न गतिविधियों में शामिल होने के कारण दो-दो बार कारावास की सजा भुगत चुके थे। इसकी प्रामाणिक जानकारी किसी अन्य आलेख में दूँगा। प्रस्तुत आलेख भारत -विभाजन की त्रासदी में संघ के स्वयंसेवकों के योगदान पर केन्द्रित है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह शताब्दी वर्ष भी है। इसलिए इस योगदान से आमजन को अवगत कराना और भी प्रासंगिक हो जाता है।

भारत विभाजन विश्व की सबसे बड़ी मानवीय त्रासदी थी। इसमें लाखों निर्दोष हिन्दू काल कवलित हुए। लाखों माँ-बहनों को नृशंस आततायियों के अमानवीय कुकृत्यों का दंश झेलना पड़ा। हजारों परिवारों ने अपने धर्म और माँ- बहनों की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने के लिए सामूहिक रूप से मौत को अंगीकार कर लिया। अपना सबकुछ छोड़कर भी जो भारत आना चाहते थे, उनका भी सामूहिक नरसंहार कर दिया गया। दिल को दहला देने वाली तथा मन में भय पैदा कर देने वाली इस परिस्थिति में भी संघ के स्वयंसेवकों ने अपनी जान की बाजी लगाकर हिन्दू और सिखों को बचाकर राहत कैंपों में लाया और फिर उन्हें उचित माध्यम से भारत की सीमा में प्रवेश दिलाया। इतना ही नहीं, भारत की सीमा में आने के बाद भी उनके रहने, खाने-पीने की भी उचित व्यवस्था की।

अगस्त,1947 आते -आते चारों तरफ हाहाकार मचा था। यह तय हो चुका था कि भारत का कौन-कौन भू-भाग पाकिस्तान में सम्मिलित होगा। पाकिस्तान में शामिल होने वाले भू-भागों में नरसंहार चल रहा था और इस बात की सूचना प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू सहित सभी नेताओं को थी, पर उनकी चुप्पी रहस्यमयी थी।

'फ्रीडम एट मिडनाइट' पुस्तक के लेखक द्वय लेरी कॉलिन्स तथा डोमिनिक लापियरे ने उस दिन की परिस्थिति का जीवंत वर्णन किया है- '14 अगस्त की शाम का समय, पंडित नेहरू रात्रि के भोजन पर बैठे ही थे, उनकी प्रिया बेटी इंदिरा व मेहमान पद्मजा नायडू भी वहाँ पर थीं। अचानक उनके अध्ययन-कक्ष के टेलीफोन की घंटी बज उठी। टेलीफोन का चोंगा उठाया तो कोई लाहौर से बोल रहा था। वह कह रहा था कि पुराने शहर के सभी हिंदू-सिखों के आवासों की पानी की आपूर्ति बंद कर गई कर दी गई है, जनता त्राहि-त्राहि कर रही है। भीषण गर्मी में प्यास के मारे दम निकल रहा है। यदि प्यासे कंठों को सींचने हेतु एक बाल्टी जल की याचना करने कोई महिला या बच्चा भी मोहल्ले के बाहर जाता है, तो बाहर खड़ी मुसलमानों की भीड़ उस पर टूट पड़ती है, उसे बेरहमी के साथ कत्ल कर देती है। नगर के आधा दर्जन भागों से आग की लपटें उठ रही हैं और आग वहाँ बेकाबू हो रही है।' यह सुनकर भी नेहरू मौन रहे और आजादी के जश्न की तैयारी में लग गए।

केवल पंडित नेहरू ही नहीं, कॉंग्रेस के अधिकतर नेता या तो मौन थे या त्याग और आत्मबलिदान की बात कर रहे थे। महात्मा गांधी 6 अगस्त,1947 को लाहौर में थे। अपनी आँखों से उन्होंने 'वाह' शरणार्थी शिविर में हिन्दू -सिखों की दुर्दशा तथा लाहौर में भीषण आगजनी और हिंसा को देखा था, फिर भी वे हिन्दुओं के लिए सुरक्षित रूप से भारत जाने की व्यवस्था नहीं कर रहे थे; बल्कि वे हिन्दुओं को मृत्यु को वरण करने का भाषण पिला रहे थे - 'मुझे यह देखकर बहुत ही बुरा लग रहा है कि पश्चिमी पंजाब से सभी गैर मुस्लिम लोग पलायन कर रहे हैं। कल 'वाह' के शिविर में भी मैं यही सुना और आज लाहौर में भी मैं यही सुन रहा हूँ। ऐसा नहीं होना चाहिए। यदि आपको लगता है कि आपका लाहौर शहर अब मृत होने जा रहा है तो इससे दूर ना भागें; बल्कि इस मरते हुए शहर के साथ ही आप भी अपना आत्मबलिदान करते हुए मृत्यु का वरण करें। जब आप भयग्रस्त हो जाते हैं, तब वास्तव में आप मरने से पहले ही मर जाते हैं। यह उचित नहीं है। मुझे कतई बुरा नहीं लगेगा यदि मुझे यह खबर मिले कि पंजाब के लोगों ने डर के मारे नहीं; बल्कि पूरे धैर्य के साथ मृत्यु का सामना किया...।'

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक इस विपरीत परिस्थिति के लिए लगभग तैयार थे। 1947 में पंजाब प्रांत के दो संघ शिक्षा वर्ग आयोजित किए गए थे- एक संगरूर और दूसरा भोगपुर (फगवाड़ा) में। भोगपुर में प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले कार्यकर्ताओं की संख्या 1937 थी। इनमें से 1556 प्रथम वर्ष और शेष 381 द्वितीय वर्ष का शिक्षा प्राप्त करने आए थे। इस शिक्षा वर्ग में लाहौर नगर के अलावा प्रांत की 337 अन्य शाखाओं से कार्यकर्ता आए थे। इस प्रकार संगरूर के शिक्षा वर्ग में 649 कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। ये सभी प्रथम वर्ष के शिक्षार्थी थे। इस प्रकार उस वर्ष अंबाला छोड़कर शेष पंजाब प्रांत के दोनों शिक्षा वर्गों में कुल मिलाकर 2586 प्रशिक्षणार्थियों ने भाग लिया था। पंजाब में विशेष स्थिति हो जाने पर यह वर्ग 10 दिन पूर्व ही समाप्त कर दिए गए थे तथा कार्यकर्ताओं का आह्वान किया गया था कि वे तुरंत अपने-अपने स्थान पर चले जाएँ तथा वहाँ समाज- रक्षा व सेवा के कामों में जुट जाएं।

संघ के स्वयंसेवकों ने पाकिस्तानी भू-भाग से हिन्दू -सिखों को सुरक्षित भारतीय भू-भाग में पहुँचाने में अपनी जान की बाजी लगा दी। श्री ए. एन. बाली अपनी पुस्तक 'नाउ इट कैन बी टोल्ड' में लिखा है - 'श्रीमती सुचेता कृपलानी, महात्मा गांधी और डॉ राजेंद्र प्रसाद आदि ने लोगों को अहिंसा पर चलने का परामर्श दिया था। उनसे भगवान पर भरोसा करने को कहा था। किंतु अधिकांश पीड़ितों को लगा कि यह एक आदर्श परामर्श है, जो सुरक्षित दुर्ग की अटारी से ही दिया जा रहा है। ऐसी कठिन घड़ी में 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' ने उनकी रक्षा की, जो निस्वार्थ हिंदू युवकों का संगठन था। उन्होंने प्रांत के हर नगर के हर महल्ले में हिंदू और सिख महिलाओं तथा बच्चों को निकालने का बीड़ा उठाया। उन्हें संकटग्रस्त क्षेत्रों से हटाकर सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया। उन्होंने उनके लिए खाने-पीने, चिकित्सा सहायता और कपड़ों का प्रबंध किया,

उनकी देखभाल की। संस्थानों की रक्षा के लिए दलों का गठन किया। विभिन्न नगरों में अग्निशामक दल बनाए गए। विस्थापित हिंदू और सिखों को ढोने के लिए लारी का प्रबंध किया गया। ट्रेनों पर सुरक्षा दल तैनात किए गए। विभिन्न हिंदू और सिख बस्तियों में रात-दिन का पहरा लगाया गया। लोगों को आत्मरक्षा का पाठ पढ़ाया गया। जब विभाजन की पूर्व संध्या पर स्थिति बड़ी गंभीर हो गई, विधि और व्यवस्था भंग हो गई, या यों कहा जाए कि उसका उपयोग हिंदू और सिखों के दमन के लिए ही किया गया, तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अनेक लोगों ने आग्नेयास्त्रों को भी चलाने में अपनी अद्भुत क्षमता दिखाई। यह तो जैसे को तैसा- 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' का पालन था। इन नवयुवकों ने पीड़ित हिंदू और सिख जनों का प्रारंभ से अंत तक साथ दिया। वे सबसे पहले उनके पास पहुँचे और सबसे बाद में पश्चिमी पंजाब उन्होंने छोड़ा।'

देश के प्रथम गृहमंत्री सरदार बल्लभभाई पटेल ने भी संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी को एक पत्र लिखकर इस तथ्य को स्वीकार किया था। यह पत्र श्री गुरुजी समग्र दर्शन खंड-2 में संकलित हैं। सरदार पटेल लिखते हैं - 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने संकट काल में हिंदू समाज की सेवा की, इसमें कोई संदेह नहीं। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ उनकी सहायता की आवश्यकता थी, संघ के नवयुवकों ने स्त्रियों तथा बच्चों की रक्षा की तथा उसके लिए काफी काम किया।' सेवानिवृत्त न्यायाधीश जयलाल ने विभाजन के समय स्वयंसेवकों के नि:स्वार्थ कार्यों को देखकर ही यह बयान दिया था कि 'यदि दस साल पहले संघ का कार्य पंजाब में शुरू हो जाता, तो पूरा पंजाब बच जाता।'

2 अक्टूबर,1949 के जालंधर से प्रकाशित आकाशवाणी साप्ताहिक के पृष्ठ 6-7 पर कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी का एक प्रेस वक्तव्य छपा था। इस वक्तव्य में श्री मुंशी ने संघ के स्वयंसेवकों की प्रशंसा करते हुए कहा था -'देश- विभाजन के दुर्दिनों में संघ के नौजवानों ने पंजाब और सिंध में अतुलनीय वीरता प्रकट की। उन नवयुवकों ने आततायी मुसलमानों का सामना करके हजारों स्त्रियों व बच्चों के मन और जीवन बचाये। अनेक नवयुवक इस कर्तव्यपालन में काम आए।'

पंजाब और सिंध की परिस्थिति कुछ विशेष थी। वहां हिन्दू -सिख भयग्रस्त हो गये थे। पुलिस -प्रशासन का समर्थन भी मुस्लिम लीग के गुंडों को था। इसलिए वहाँ मुस्लिम लीग के गुंडों ने खुला तांडव किया। पर उनकी मंशा यही तक सीमित नहीं थी। दिल्ली पर भी वे अपना अधिकार जमाना चाहते थे। पर संघ के स्वयंसेवकों ने उनका एक न चलने दिया। 02 अक्तूबर, 1947 को आर्गनाइजर साप्ताहिक में छपा यह समाचार देखिए - 'गड़बड़ी के दिनों में पुलिस द्वारा मारे जा रहे छापों में सबसे बड़ा हथियारों का जखीरा शाहदरा में पकड़ा गया। यहाँ से पुलिस को 600 रायफलें व भारी मात्रा में बम बरामद हुए हैं। यह भी पता चला है कि करोलबाग में फैज रोड स्थित एक घर से पुलिस ने दो लोडेड मोर्टार बरामद किए हैं। अलीपुर रोड सिविल लाइन से स्थित एक मुस्लिम महिला के अधिकार वाले घर से चार शॉट गनें, चार रायफल, एक पिस्टल, 78 कारतूस, 15 गैलन पेट्रोल तथा 10 गैलन मिट्टी का तेल बरामद किया गया है।'

उसी पत्रिका में प्रकाशित एक दूसरा समाचार देखिए - 'पहाड़गंज, निजामुद्दीन तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में तलाशियाँ चालू हैं। 19 सितंबर को जो तलाशी चालू हुई, उसमें निजामुद्दीन क्षेत्र में एक वॉयरलैस ट्रांसमीटर, 5 बारह बोर शॉट गनें, पाँच रायफलें, एक रिवाल्वर, 12 बोर के 814 कारतूस, रायफलों की 191 गोलियां और 47 गोलियाँ रिवाल्वर की आदि सामान मिला है। इसी प्रकार पहाड़गंज में भी भारी शस्त्र-भंडार पकड़ा गया है।'

दिल्ली में सशस्त्र, सुनियोजित व संगठित विद्रोह की पूरी तैयारी थी। गुप्तचर विभाग इस षड्यंत्र से अनभिज्ञ था, पर संघ का नेतृत्व इन हरकतों के प्रति सचेत था। संघ के कार्यकर्ता लीगियों की तैयारी की खोज-खबर लेते रहते थे। संघ के अधिकारी इन खबरों से प्रशासन को अवगत कराते रहते थे। मुस्लिम लीग की कैसी तैयारी थी, इसकी चर्चा तत्कालीन काँग्रेस अध्यक्ष आचार्य कृपलानी ने भी की है। यह वाकया 'कृपलानी -गांधी'

पुस्तक के पृष्ठ 292 पर अंकित है। आचार्य कृपलानी कहते हैं -'मुसलमानों ने हथियार एकत्र कर लिए थे। उनके घरों की तलाशी होने पर बम आग्नेयास्त्र और गोला-बारूद के भंडार मिले थे। स्टेनगन, ब्रेनगन, मोर्टार और वॉयरलैस ट्रांसमीटर बड़ी मात्रा में मिले। इन वस्तुओं को गुपचुप बनाने वाले कारखाने भी पकड़े गए। अनेक स्थानों पर घमासान

संघर्ष हुआ, जिसमें इन हथियारों का खुलकर प्रयोग हुआ। पुलिस में मुसलमानों की भरमार थी। इस कारण सरकार को दंगे को दबाने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इन पुलिस वालों में से अनेक तो अपनी वर्दी व हथियार लेकर ही फरार हो गए और दंगाइयों से मिल गए। शेष जो बचे थे, उनकी निष्ठा भी संदिग्ध थी। सरकार को अन्य प्रांतों से पुलिस व सेना बुलानी पड़ी।'

संघ के स्वयंसेवकों की इस पूरे घटनाक्रम में क्या भूमिका थी, इसका वर्णन भारतरत्न डॉ भगवान दास ने 19 अक्टूबर, 1948 को जारी अपने एक वक्तव्य में किया है। यह वक्तव्य ए. एन. बाली की पुस्तक 'नाउ इट कैन बी टोल्ड' में संकलित है। डॉ भगवान दास कहते हैं- 'मुझे विश्वस्त्र सूत्रों से पता चला है कि दिल्ली में मुस्लिम लीगियों का विश्वास अर्जित करने हेतु अनेक स्वयंसेवक मुसलमान तक बन गए और इस कारण लीग के षड्यंत्र को भेद सके। वे ठीक समय पर सरदार पटेल को इस विप्लव की जानकारी दे सके। उन्होंने बताया कि 10 सितंबर, 1947 को एक साथ सशस्त्र विद्रोह कर केंद्र सरकार के सभी वरिष्ठ मंत्रियों व वरिष्ठ अधिकारियों की हत्या कर तथा बड़े पैमाने पर हिंदुओं का नरसंहार कर लाल किले पर पाकिस्तानी हरा झंडा फहराने और उसके बाद सारे भारत पर कब्जा करने की योजना थी।'

डॉ भगवान दास ने आगे अपने वक्तव्य में कहा है कि - 'इन उच्चमना और आत्मबलिदानी युवकों ने नेहरू और सरदार पटेल को समय रहते सूचना न दी होती तो वर्तमान सरकार का कहीं नामोनिशां भी नहीं होता। समूचा देश ही पाकिस्तान कहलाता। करोड़ों हिंदुओं का वध होता। शेष को मुसलमान बनने पर मजबूर होना पड़ता अथवा वे निरे दास बनने को मजबूर हो जाते।'

03 जून, 1947 को देश-विभाजन की घोषणा के बाद पूर्वी पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान में मुस्लिम नेशनल गार्ड और बिलोच आर्मी द्वारा जो सुनियोजित षड्यंत्र किया गया और काँग्रेसी नेता जिस तरह मैदान छोड़कर भाग गए, यदि संघ के स्वयंसेवक मोर्चा नहीं सँभाले रहते तो एक भी हिन्दू -सिख को बचकर भारतीय भू-भाग में आना असंभव जैसा था। इस कार्य में सैकड़ों स्वयंसेवक शहीद हो गए। पंजाब रिलीज कमेटी तथा वास्तुहारा सहायता समिति के माध्यम से लाखों हिन्दुओं की सहायता की गयी। अमृतसर को पाकिस्तान में जबरन मिलाने का षड्यंत्र विफल किया गया। दिल्ली को कब्जाने तथा मंत्रियों व अधिकारियों की हत्या की साजिशों का खुलासा किया गया। हजारों राहत शिविरों का संचालन किया गया तथा हिन्दुओं का मनोबल टूटे नहीं, इसकी पूरी व्यवस्था की गयी। संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी ने स्वयं अगस्त के पहले सप्ताह में सिंध तथा बलूचिस्तान का दौरा किया तथा सार्वजनिक रूप से कार्यक्रम किया। कश्मीर का भारत में विलय हो, इसके लिए श्री गुरुजी ने कश्मीर के महाराजा हरि सिंह से स्वयं मिलकर उनका मानस तैयार किया। ये सब ऐतिहासिक दस्तावेज हैं जो विभाजन के समय स्वयंसेवकों के देशहित में किए गए कार्यों की महत्ता को रेखांकित करते हैं। सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में इन तथ्यों और सबूतों को संकलित किया गया है। आज जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जब अपनी स्थापना का शताब्दी वर्ष मना रहा है, तो हम सबका यह परम दायित्व है कि इन साक्ष्यों और साक्षियों को आमजन के सामने लाया जाय। ■

पता- सुभाषनगर , के आर हाई स्कूल के पूरब,
बेतिया, बिहार-845438।
दूरभाष - 7979020413

राष्ट्रध्वज तिरंगा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

कृष्णमुरारी त्रिपाठी अटल

स्वातंत्र्य आंदोलन की क्रांति चेतना के मध्य उद्भूत हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्वीकार्यता समाज के मध्य क्रमशः बढ़ती गई। समाज जीवन के विविध क्षेत्रों में भारत वर्ष के कोने-कोने में संघ की शाखाएं लगनी शुरु हुईं। समाज के हर वर्ग और जाति के लोग संघ के स्वयंसेवक बनने लगे।1925 में डॉ हेडगेवार ने जब संघ की स्थापना की तो भारतीय संस्कृति के मानबिंदु 'भगवा ध्वज' को 'गुरु' के रूप में स्वीकार किया गया। व्यक्ति निष्ठा के स्थान पर तत्व निष्ठा की पद्धति विकसित हुई। संघ की शाखाओं और विविध कार्यक्रमों, कार्यालयों में भगवा ध्वज को आदर और श्रद्धा के साथ फहराया जाने लगा। 15 अगस्त 1947 को जब भारत स्वतंत्र हुआ तो तिरंगा झंडा को भारत के राष्ट्रीय ध्वज के रूप में मान्यता मिली। भारतीय संविधान के समस्त प्रतीकों और श्रद्धा केंद्रों के प्रति अनन्य निष्ठा के साथ संघ निरन्तर हिंदू समाज के संगठन में जुट गया। समय के साथ संघ की शक्ति और सामर्थ्य बढ़ती चली गई। हिंदू समाज की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर—विभाजनकारी संगठन और लोग घबरा गए। ऐसे में एक संगठित योजना के अंतर्गत मे प्रचार किया जाने लगा कि— संघ अपने कार्यालयों में तिरंगा झंडा क्यों नहीं फहराता रहा है? हालांकि इन दुष्प्रचारों का कोई सत्य आधार नहीं है। क्योंकि ये केवल समाज में संघ के बारे में भ्रामक वातावरण तैयार करने के लिए किए जाने वाले प्रोपेगैंडा हैं। लेकिन फिर भी हम सत्य और तथ्य की दृष्टि से विविध प्रसंगों का अवलोकन करेंगे।

प्रथमत: ये तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि - आरएसएस

की स्थापना 1925 में हुई थी और तिरंगे झंडे को राष्ट्रीय ध्वज के रूप में संविधान सभा ने 22 जुलाई 1947 को स्वीकार किया था। आगे चलकर 26 जनवरी 1950 को संविधान लागू होने के साथ ही तिरंगे झंडे को 'राष्ट्रीय ध्वज' के तौर पर स्वीकार किया गया।

संघ में भगवा ध्वज— गुरु के रूप में अधिष्ठित है। ये ऐसे ही है — जैसे देश की तीनों सेनाओं के अलग-अलग ध्वज हैं। विभिन्न संस्थानों, सुरक्षाबलों के अपने-अपने अलग-अलग ध्वज हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों, संगठनों, पंथ और संप्रदायों के भी अपने-अपने अलग-अलग ध्वज होते हैं। क्या इस आधार पर किसी के ध्वज की तिरंगे से तुलना की जा सकती है? क्या इस आधार पर मान और अपमान के दुष्प्रचार किए जा सकते हैं? क्या ये किसी प्रकार से तर्कसंगत है?

वस्तुत: तिरंगा झंडा हमारा राष्ट्रीय ध्वज है। उसके प्रति सम्मान हमारी राष्ट्रीय एकात्मता का प्रतिनिधित्व करता है। संघ की सृष्टि में इसी एकात्मता के मूल्यबोध गहरे तक समाए हुए हैं।

संविधान और उसके आदर्शों और प्रतीकों को लेकर संघ के सरसंघचालक डॉ मोहन भागवत कहते हैं कि —"स्वतंत्र भारत के सब प्रतीकों के अनुशासन में उसका पूर्ण सम्मान करके हम चलते हैं। हमारा संविधान भी ऐसा ही प्रतीक है। शतकों के बाद हम को फिर से अपना जीवन अपने तंत्र से खड़ा करने का जो मौका मिला, उस पर हमारे देश के मूर्धन्य लोगों ने, विचारवान लोगों ने एकत्रित होकर, विचार करके संविधान को बनाया है।"

(तीन दिवसीय व्याख्यानमाला 'भविष्य का भारत: – 18 सितम्बर 2018, विज्ञान भवन, नई दिल्ली)

अब, हम एक-एक कर संघ और तिरंगे के अंतर्संबंधों के विषय में जानते हैं। कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन और लाहौर अधिवेशन से जुड़े दो महत्वपूर्ण प्रसंग उल्लेखनीय हैं।सरसंघचालक डॉ मोहन भागवत दोनों प्रसंगों पर सविस्तार प्रकाश डालते हैं — "तिरंगे झंडे के जन्म से, उसके सम्मान के साथ संघ का स्वयंसेवक जुड़ा है। मैं आपको सत्य घटना बता रहा हूँ। निश्चित होने के बाद, उस समय तो चक्र नहीं था, चरखा था ध्वज पर। पहली बार फैजपुर के कांग्रेस अधिवेशन में उस ध्वज को फहराया गया था, अस्सी फीट ऊँचा ध्वजस्तंभ लगाया था। नेहरूजी उसके अध्यक्ष थे। झंडा बीच में लटक गया। ऊपर पूरा जा नहीं सका और इतना ऊँचा चढ़कर उसको सुलझाने का साहस किसी का नहीं था। एक तरुण भीड़ में से दौड़ा, वह सटासट उस खंबे पर चढ़ गया, उसने रस्सियों की गुत्थी सुलझाई, ध्वज को ऊपर पहुँचाकर नीचे आ गया। तो स्वाभाविक लोगों ने उसको कंधों पर उठा लिया और नेहरूजी के पास लेकर गए, नेहरूजी ने उसकी पीठ थपथपाई और कहा कि तुम शाम को खुले अधिवेशन में आओ, तुम्हारा अभिनंदन करेंगे, लेकिन फिर कुछ नेता आए और कहा कि उसको मत बुलाओ, वह शाखा में जाता है। जलगाँव में फैजपुर के रहनेवाले श्री किशन सिंह राजपूत वह स्वयंसेवक थे। पाँच-छह वर्ष पहले उनका देहांत हो गया। डॉ. हेडगेवार को पता चला तो वे प्रवास करके गए। उन्होंने उनको एक छोटा सा चाँदी का लोटा पुरस्कार के रूप में भेंट कर उसका अभिनंदन किया। तिरंगा पहली बार फहराया गया, तब से इसके सम्मान के साथ स्वयंसेवक जुड़ा है।.... जब पहली बार कांग्रेस ने संपूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव लाहौर अधिवेशन में पारित किया तो डॉ. साहब ने सर्कुलर निकाला कि सभी शाखाएँ सभा करें और कांग्रेस का अभिनंदन करनेवाला प्रस्ताव शाखाओं द्वारा पारित करके कांग्रेस कमेटी के पास भेजा जाए। यह 1931 की बात है। डॉ. हेडगेवार के जीवन में देश का परम् वैभव, देश की स्वतंत्रता, यही उनके जीवन का गंतव्य था। संघ में दूसरा क्या हो सकता है ? इसलिए अपने स्वतंत्रता के जितने सारे प्रतीक हैं, उन सबके प्रति संघ का स्वयंसेवक अत्यंत श्रद्धा और सम्मान के साथ समर्पित रहा है। इससे दूसरी बात संघ में नहीं चल सकती।"

(17 सितंबर, 2018, नई दिल्ली; राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की तीन दिवसीय व्याख्यानमाला 'भविष्य का भारत : संघ का दृष्टिकोण' का प्रथम दिवस, यशस्वी भारत पृ. 197,198)

उपरोक्त उद्धरण सुस्पष्ट करते हैं कि संघ राष्ट्रीय प्रतीकों और तिरंगे ध्वज और संवैधानिक मूल्यों के प्रति कितना सजग है। जोकि राष्ट्रीयता के मानबिंदुओं के प्रति अगाध श्रद्धा के प्रतीक हैं। प्रायः ये भी ध्यान रखना चाहिए कि 26 जनवरी 1950 को राष्ट्रीय ध्वज के तौर पर तिरंगे झंडे

को को स्वीकार कर लिया गया। इसके साथ ही तिरंगे की गरिमा और आदर्श को लेकर कुछ नियम भी पंडित नेहरू के नेतृत्व वाली सरकार ने बनाए। प्रतीक और नाम अधिनियम, 1950 के अंतर्गत राष्ट्रीय ध्वज को भी रखा गया। इसके चलते आम नागरिक और संस्थाएं राष्ट्रीय ध्वज तिरंगे को नहीं फहरा सकती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय ध्वज तिरंगे को 2002 तक केवल सरकारी कार्यालयों, संस्थानों और बड़े सरकारी अधिकारियों की गाड़ी में ही तिरंगा फहराया जा सकता रहा। राष्ट्रीय ध्वज फहराने के लिए आम नागरिकों/ संस्थानों के लिए राह आसान की उद्योगपति नवीन जिंदल की दृढ़ निष्ठा ने। इस संबंध में 'राष्ट्रध्वज और आरएसएस' पुस्तक में मीडिया प्राध्यापक लोकेंद्र सिंह लिखते हैं कि — "राष्ट्रीय ध्वज संहिता' के कड़े नियमों कारण वर्ष 1992 में उद्योगपति नवीन जिंदल को अपने कार्यस्थल पर झंडा फहराने से रोक दिया गया और उन्हें नियमों का हवाला देकर कड़ी कार्रवाई करने की चेतावनी भी दी गई। नवीन जिंदल को बताया गया कि भारत के आम नागरिक को अपने देश का राष्ट्रीय ध्वज फहराने की अनुमति नहीं है। केवल सरकारी कार्यालयों और बड़े सरकारी अधिकारियों की गाड़ी पर ही राष्ट्रीय ध्वज फहराया जा सकता है। विदेश से पढ़कर लौटे देशभक्त युवा उद्यमी नवीन जिंदल को यह बात चुभ गई और उन्होंने प्रण कर लिया कि राष्ट्रीय ध्वज फहराने का अधिकार लेकर रहेंगे। राष्ट्रीय ध्वज के विकास क्रम में यह प्रकरण मील का पत्थर है।"

(संदर्भ : 'राष्ट्रध्वज और आरएसएस', लोकेंद्र सिंह अर्चना प्रकाशन,पृ. 31)

आगे लोकेंद्र सिंह लिखते हैं कि—"नवीन जिंदल ने वर्ष 1995 में दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर ध्वज संहिता में बदलाव की मांग की।अपनी याचिका में उन्होंने कहा- वे एक पब्लिक लिमिटेड कंपनी के संयुक्त प्रबंध निदेशक हैं। मध्यप्रदेश (अब छत्तीसगढ़) के रायगढ़ में स्थित अपनी कंपनी के कारखाने के प्रभारी होने के नाते, अपने कार्यालय परिसर में राष्ट्रीय ध्वज फहरा रहे थे। परंतु सरकारी अधिकारियों ने भारतीय ध्वज संहिता का हलावा देकर उन्हें ध्वज फहराने से रोक दिया और ध्वज फहराने की अनुमति नहीं दी। अपनी याचिका में उन्होंने न्यायालय के समक्ष तर्क प्रस्तुत किया कि कोई भी कानून भारतीय नागरिकों को राष्ट्रीय ध्वज फहराने से रोक नहीं सकता है। सम्मान और गरिमा के साथ राष्ट्रीय ध्वज फहराना एक मौलिक अधिकार है। इस संबंध में उन्होंने विश्व के विभिन्न देशों में ध्वज फहराने के संबंध में नागरिकों को मिली स्वतंत्रता एवं अधिकारों का उल्लेख किया।उद्योगपति नवीन जिंदल ने कठोर ध्वज संहिता को बदलवाने के लिए लम्बी कानूनी लड़ाई लड़ी। सर्वोच्च न्यायालय ने 15 जनवरी, 2002 को निर्णय सुनाया कि 26 जनवरी, 2002 से भारत का कोई भी नागरिक वर्षभर राष्ट्रीय ध्वज तिरंगा फहरा सकता है। इसी वर्ष से भारतीय झंडा संहिता - 2002 भी लागू की गई, जो यह बताती है कि कब, कौन और कैसे राष्ट्रीय ध्वज को फहरा सकता है।"

(संदर्भ : 'राष्ट्रध्वज और आरएसएस', लोकेंद्र सिंह अर्चना प्रकाशन,पृ. 31-32)

नवीन जिंदल केस स्पष्ट तौर पर उन लोगों के मुंह पर करारा तमाचा है। जो दुष्प्रचार करते हुए कहते रहते हैं कि— आखिर संघ 1950 से 2002 तक अपने मुख्यालयों में तिरंगा झंडा क्यों नहीं फहराता रहा। तत्पश्चात 2002 की नई ध्वज संहिता लागू होने के बाद से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पूर्व की भांति ही — राष्ट्रीय पर्वों के अवसर पर अपने कार्यालयों में तिरंगा वंदन और ध्वजारोहण की परंपरा को निभाने लगा।

इसी प्रकार हम अतीत की ओर ध्यान दें तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत के राष्ट्रीय प्रतीकों के संबंध में हमेशा अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त की है। लोकेंद्र सिंह 'राष्ट्र ध्वज और आरएसएस' में

लिखते हैं — "उल्लेखनीय है कि पूज्य महात्मा गांधी की हत्या के मिथ्या आरोप लगाकर तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने संघ पर प्रतिबंध लगाने की भूल की। बाद में, जब सरकार प्रतिबंध हटाने को मजबूर हुई तब भी सरकार की ओर से नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न करने के प्रयास किए गए, जिनका संघ के तत्कालीन सरसंघचालक माधव सदाशिवराव गोलवलकर 'श्रीगुरुजी' ने समुचित उत्तर दिया।

(संदर्भ : 'राष्ट्रध्वज और आरएसएस', लोकेंद्र सिंह अर्चना प्रकाशन,पृ. 21)

वहीं संघ पर लगाए गए प्रतिबंध को हटाने के प्रकरण में सरकार और संघ के मध्य मध्यस्थ की भूमिका निभा रहे

वरिष्ठ अधिवक्ता एवं राजनेता पंडित मौलिचंद्र शर्मा को द्वितीय सरसंघचालक श्रीगुरुजी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए 10 जुलाई, 1949 को विस्तृत पत्र लिखा। इस पत्र में भी उन्होंने भारत के संविधान और राष्ट्रीय ध्वज के संबंध में संघ के मत को सुस्पष्ट किया है। पत्र के पहले ही हिस्से में उन्होंने लिखा है — "एक स्वतंत्र देश में यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए। भारत का प्रत्येक नागरिक अपने देश के प्रति निष्ठावान है और वह उसका सगर्व जन्मसिद्ध अधिकार है। संघ का प्रत्येक सदस्य अपना सर्वस्व मातृभूमि के लिए अर्पित करने की प्रतिज्ञा करता है। भारत के प्रत्येक नागरिक के समान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रत्येक स्वयंसेवक देश, उसके संविधान और भारतीय स्वतंत्रता और उसके गौरव के प्रत्येक प्रतीक के प्रति निष्ठावान है। राष्ट्रीय ध्वज भी ऐसा ही एक प्रतीक है और यह जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत के प्रत्येक नागरिक के समान ही प्रत्येक स्वयंसेवक का कर्त्तव्य है कि इस ध्वज के साथ खड़ा रहे और उसके सम्मान को अक्षुण्ण रखे। जैसा आपको ज्ञात है यह संविधान के प्रारूप की 5वीं धारा में स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं था फिर भी यह सलाह दी गई थी कि यह स्पष्ट किया जाए कि संघ इस मामले में कितना महत्व देता है। मुझे विश्वास है कि हमारे संस्थागत ध्वज - भगवा ध्वज, के प्रश्न को संविधान परिषद द्वारा अधिमान्य राज्य ध्वज के प्रश्न से कोई भी मिलाएगा नहीं। जैसा आपको ज्ञात है कि कांग्रेस का भी राज्य ध्वज के अतिरिक्त अपना अलग ध्वज है। वास्तव में कोई भी दल, संस्था, अथवा व्यक्ति सन्नियम के अंतर्गत राज्य ध्वज का प्रयोग नहीं कर सकता है, केवल सरकार द्वारा निर्धारित नियमों के अंतर्गत ही अपवाद है। यह भावना होते हुए, मुझे इस विषय में कोई आपत्ति नहीं है जिसे संविधान में और अधिक स्पष्ट किया गया है।"

(संदर्भ: नारायण गंगाधर वझे एवं माणिकचंद्र वाजपेयी (2018), राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पहली अग्नि परीक्षा, पृष्ठ 305)

वस्तुत:राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपने गठन के समय से ही राष्ट्रीयता के मूल्यों को सर्वोपरि रखा है। राष्ट्रीय विपदा के समय और तिरंगे झंडे के सम्मान के लिए संघ के स्वयंसेवकों ने अपना आत्मोसर्ग करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। भारत स्वतंत्र तो हो गया था लेकिन 1955 तक गोवा, दादरा एवं नगर हवेली पुर्तगाल के अधीन थे। संघ के स्वयंसेवकों को ये असह्य था। 1954 में जब 'सर्वदलीय मुक्ति आंदोलन' शुरू हुआ तो देश भर से संघ के स्वयंसेवक एकत्रित हुए।'आजाद गोमांतक दल' के माध्यम से गोवा की मुक्ति के लिए आंदोलन में कूद पड़े। नरेंद्र सहगल लिखते हैं — "25 जून, 1955 को संघ के एक वरिष्ठ प्रचारक जगन्नाथ राव जोशी के नेतृत्व में लगभग 50 स्वयंसेवकों के एक जत्थे ने सत्याग्रह किया। इन शांत आंदोलनकारियों पर गोवा की पुलिस ने जमकर लाठियां भांजी। पुलिस की ओर से की गई गोलीबारी में मथुरा शाखा के स्वयंसेवक अमीरचंद गुप्त ने गोवा की स्वतंत्रता के लिए अपना बलिदान दिया और इस जत्थे के नेता जगन्नाथ राव जोशी को 20 वर्ष की जेल का दंड दिया गया। इसी तरह गोवा की राजधानी पणजी के सचिवालय में 1955 में पहली बार तिरंगा झंडा फहराने पर स्वयंसेवक मोहन रानाडे को लिस्वन (पुर्तगाल) की जेल में 16 वर्ष तक का कठोर कारावास भुगतना पड़ा।"

(संदर्भ : भारतवर्ष की सर्वांग स्वतंत्रता, नरेंद्र सहगल, प्रभात प्रकाशन 2018, पृ.222)

इसी प्रकार पुणे के संघचालक विनायक राव आप्टे के नेतृत्व में लगभग 100 स्वयंसेवकों के एक दल ने 2 अगस्त, 1954 को दादरा और नगर हवेली के परिक्षेत्रों पर धावा बोल दिया था।दादरा और नगर हवेली के मुख्यालय सिलवासा में हमला कर पुर्तगाली सैनिकों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर दिया था। उस दौरान संघ के स्ववयंसेवकों ने वहां के सचिवालय में तिरंगा झंडा फहराकर भारतमाता का जयघोष किया।

तिरंगे को झुकने नहीं दिया :

इसी प्रकार गोवा मुक्ति आन्दोलन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दिल्ली प्रांत प्रचारक बसंत राव ओक ने 15 अगस्त, 1955 को सबसे बड़े सत्याग्रही जत्थे का नेतृत्व किया। गोवा पुलिस ने बिना कोई चेतावनी दिए गोली वर्षा कर दी। तीन-चार गोलियाँ खाने के बाद भी उन्होंने तिरंगा नहीं छोड़ा। अंत में उनके गिरने के तुरंत बाद सागर (मध्य प्रदेश) की महिला सत्याग्रही सहोदरा देवी ने तिरंगा झंडा अपने हाथों में थाम लिया। यह सत्याग्रही बहन इतनी बहादुर थी कि इसने

बाएँ हाथ पर गोली लगने के पश्चात् दाएँ हाथ में तिरंगे को थाम लिया। एक ओर गोली लगने से जब यह बहन अचेत होकर गिर पड़ी तो उज्जैन के जिला संघ प्रचारक राजाभाऊ महाकाल ने भारतमाता की जय के उद्घोष के साथ तिरंगा झंडा सँभाल लिया। गोवा पुलिस की ताबड़-तोड़ गोलीवर्षा के कारण राजाभाऊ महाकाल नीचे गिर गए। तिरंगे को एक अन्य सत्याग्रही स्वयंसेवक ने पकड़ा और सत्याग्रहियों को आगे बढ़ने के लिए कहा। जिला प्रचारक महाकाल शहीद हो गए, परंतु खून से लथपथ होते हुए भी अंतिम क्षण तक भारतमाता की जय के नारे लगाते रहे।

(संदर्भ : नरेन्द्र सहगल (2018), भारतवर्ष की सर्वांग स्वतंत्रता, प्रभात प्रकाशन, पृष्ठ 223)

वहीं जब बात 1962 के भारत और चीन युद्ध की आती है। उस समय भी संघ के स्वयंसेवकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। असम के तेजपुर जिले में चीन के 'रैड्ड गार्डज' को रोकने के लिए संघ के स्वयंसेवकों ने भारतीय सैनिकों की तीन दिन तक मदद की थी। संघ के सेवा कार्यों से प्रभावित होकर तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने संघ के स्वयंसेवकों को 26 जनवरी 1963 की परेड में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया था। इसमें 3500से अधिक संघ के स्वयंसेवकों ने गणवेश में इस परेड में हिस्सा लिया था। अभिप्राय ये कि संघ ने हमेशा राष्ट्र की एकता, अखंडता के लिए अपनी प्रतिबद्धता प्रकट की। हां ये जरूर है कि संघ ने हमेशा 'सहभाग पर बल दिया और श्रेय से दूर रहा'..

इसी प्रकार जम्मू-कश्मीर से धारा-370की समाप्ति के लिए संघ के स्वयंसेवकों और इसके अनुषांगिक संगठनों के कई कार्यकर्ताओं को अपने प्राण गवांने पड़े। लेकिन उन्होंने कश्मीर के लाल चौक में तिरंगा फहराया और भारत माता का गगनभेदी जयघोष किया। सन् 1952 में

'एक देश में दो विधान, दो प्रधान, दो निशान नहीं चलेंगे-नहीं चलेंगे' ; इस उद्घोष के साथ प्रजा परिषद के नेतृत्व में आंदोलन प्रारंभ हुआ।इस दौरान संघ के 15 स्वयंसेवकों का बलिदान हुआ। इसी प्रकार 11 सितंबर, 1990 को 'कश्मीर चलो' का आह्वान करते हुए अभाविप के नेतृत्व में 10 हजार से अधिक छात्र-छात्राएं लाल चौक पर तिरंगा फहराने पहुँचे थे। उस दौरान अभाविप के कार्यकर्ताओं ने - "जहाँ हुआ तिरंगे का अपमान, वहीं करेंगे उसका सम्मान"। ; ये नारा लगाते हुए आतंकवाद की छाती पर चढ़कर तिरंगा झंडा फहराया था। राष्ट्र की एकता, अखंडता और संप्रभुता का जयघोष किया था। ठीक इसी प्रकार 11दिसंबर 1991 को मुरली मनोहर जोशी के नेतृत्व में बीजेपी ने तमिलनाडु के कन्याकुमारी से कश्मीर तक 'एकता यात्रा' निकाली थी। इसमें उनके साथ वर्तमान प्रधानमंत्री और तत्कालीन संघ प्रचारक नरेन्द्र मोदी प्रमुख भूमिका में थे। उस समय आतंकवादियों के हमलों को चुनौती देते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने सिंह गर्जना की थी। 26 जनवरी 1992 को मुरली मनोहर जोशी, संघ के प्रचारक नरेन्द्र मोदी समेत दर्जन भर भाजपा नेताओं ने श्रीनगर के लाल चौक में शान से तिरंगा झंडा फहराया था। राष्ट्रीयता के प्रखर स्वर को नया वितान दिया था। इसी की परिणति अगस्त 2019 में धारा-370 और 35ए की समाप्ति के साथ हुई।

उपरोक्त वर्णित और उद्धरित विविध तथ्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की संविधान और उसके प्रतीकों के प्रति श्रद्धा के विषय में सार संक्षेप में प्रकाश डालते हैं। इन तथ्यों के आलोक में ये बात भी सुस्पष्ट होती है कि संघ के लिए आदर्श, मूल्य और विचार केवल वैचारिक नहीं हैं। अपितु उसे आत्मसात कर चरितार्थ करने के रूप में दिखाई देते हैं। राष्ट्र पर जब-जब कोई विपदा आई है। संघ के स्वयंसेवक बिना किसी के कहे आत्मस्फूर्ति के साथ राष्ट्र और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों के निर्वहन में जुट गए।नि: स्वार्थ भाव से भारतमाता के प्रति आदर और श्रद्धा के ये भाव अनूठे हैं। चाहे बात राष्ट्रध्वज तिरंगे के लिए बलिदान देने की हो। याकि राष्ट्र की एकता-अखंडता की हो। संघ ने राष्ट्र प्रथम की भावना के साथ हमेशा कार्य किया है। लेकिन प्रसिद्धि से स्वयं को दूर रखा। इसी के चलते सत्ता पोषित विशेष गिरोहों ने समाज के बीच संघ की छवि धूमिल करने के लिए तमाम हथकंडे अपनाए। लेकिन वे सफल नहीं हो सके। क्योंकि उनकी बुनियादी ही झूठ पर खड़ी है। ऐसे में सत्य का ताप पड़ते ही प्रोपेगैंडाबाज स्वत: ही ध्वस्त हो जाते हैं।इन समस्त विवेचनों के आधार पर आप स्वयं तय करें कि संघ के विषय में दुष्प्रचार करने वालों का मंतव्य क्या रहता है। ■

(साहित्यकार, स्तम्भकार एवं पत्रकार)

अनादि समर : छावा के बलिदान से जाग उठा हिन्दू

डॉ. लोकेन्द्र सिंह

लेखक गिरीश जोशी की पुस्तक 'अनादि समर' छत्रपति शंभूराजे की जीवनी मात्र नहीं है, बल्कि यह भारतीय इतिहास के उस महत्वपूर्ण कालखंड का विश्लेषण है, जिसे सही ढंग से सामने नहीं लाया गया है। इस पुस्तक की पृष्ठभूमि की जानकारी मुझे ज्ञात है, इसलिए बताना चाहूँगा कि जब सुपरहिट फिल्म 'छावा' आई थी, तब छत्रपति शंभूराजे अर्थात् संभाजी महाराज के बारे में जानने की इच्छा लोगों के मन में अत्यंत प्रबल थी। यह एक सहज जिज्ञासा थी कि छत्रपति शंभूराजे के बलिदान के बाद क्या हुआ होगा? क्योंकि फिल्म की पटकथा हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए छत्रपति शंभूराजे के बलिदान पर खत्म हो जाती है। उस समय लेखक गिरीश जोशी जी को यह दायित्व बोध हुआ कि फिल्म जहाँ खत्म होती है, उसके आगे की कहानी वे सुनाएँगे। लोगों को यह अवश्य ही जानना चाहिए कि छत्रपति शंभूराजे के बलिदान ने किस प्रकार हिन्दुत्व की ज्वाला को और तीव्र किया। 'अनादि समर' के माध्यम से लेखक गिरीश जोशी ने छत्रपति शंभूराजे के मुगलों के साथ संघर्ष, उनके बलिदान और उस बलिदान के परिणामस्वरूप उपजे 'लोकयुद्ध' के वास्तविक इतिहास को सामने लाने का साधु कार्य किया है।

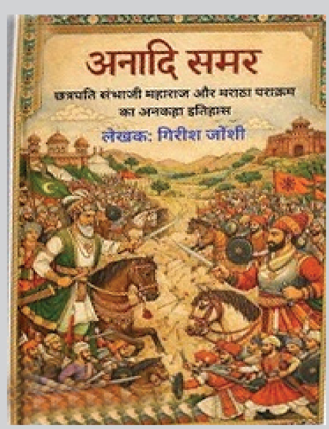

पुस्तक : अनादि समर
लेखक : गिरीश अवधूत जोशी
प्रकाशक : अर्चना प्रकाशन, भोपाल
मूल्य : 80 रुपये

पुस्तक 'अनादि समर' की शुरुआत यवन आक्रांताओं, विशेषकर औरंगजेब की क्रूरता और छत्रपति शिवाजी महाराज द्वारा 'हिंदवी स्वराज्य' की स्थापना की पृष्ठभूमि से होती है। छत्रपति शिवाजी महाराज के निधन के बाद हिन्दवी स्वराज्य पर पुर्तगालियों, जंजीरा के सिद्दी, अंग्रेजों और मुगलों ने एक साथ नजरें गड़ाईं। ऐसे में हिन्दवी स्वराज्य की बागडोर छत्रपति शंभूराजे ने संभाली। बाहर की टेढ़ी नजरों के साथ-साथ उन्होंने दरबारी षड्यंत्रों का भी डटकर सामना किया। पुस्तक में जंजीरा किले को जीतने के लिए समुद्र में रास्ता बनाने की योजना और पुर्तगालियों को घुटने टेकने पर मजबूर करने जैसे प्रसंग छत्रपति शंभूराजे के सैन्य कौशल को दर्शाते हैं। लेखक ने स्पष्ट किया है कि संभाजी महाराज केवल एक वीर योद्धा ही नहीं थे, बल्कि 13 भाषाओं के ज्ञाता, उत्कृष्ट विचारक और 'बुधभूषण' जैसे संस्कृत ग्रंथ के रचयिता भी थे। अर्थात् लेखक ने छत्रपति शंभूराजे के बहुआयामी व्यक्तित्व को भी सामने लाने का सफल प्रयास किया है।

जिस पराक्रमी योद्धा को आमने-सामने की लड़ाई में परास्त करना संभव नहीं था, उसे पकड़ने के लिए मुगलों ने छल का जाल बिछाया। संगमेश्वर में अपने ही साले गणोजी शिर्के की गद्दारी के कारण छत्रपति शंभूराजे मुगलों की कैद में आ गए। उसके बाद हम सब जानते हैं कि क्रूर औरंगजेब ने इस्लाम कबूलने का दबाव डालने के लिए छत्रपति शंभूराजे को घोर शारीरिक यातनाएँ दीं। उनकी आँखें फोड़ दीं, जीभ खींच ली, जख्मों पर नमक छिड़का; औरंगजेब जितनी क्रूरता दिखा सकता था, उसने दिखाई। इसके बावजूद वह धर्मवीर शंभूराजे को झुका नहीं सका। छत्रपति शंभूराजे ने फाल्गुन अमावस्या (11 मार्च, 1690) को धर्म के लिए अपना सर्वोच्च बलिदान दे दिया।

'अनादि समर' इससे आगे की कहानी हमें सुनाती है। अत्याचारी औरंगजेब को लगा था कि इस हत्या से हिन्दू समाज दहल जाएगा, लेकिन इसका उल्टा असर हुआ। छत्रपति शंभूराजे के बलिदान ने प्रत्येक हिन्दू नागरिक को सैनिक बना दिया। राजाराम, महारानी ताराबाई, संताजी घोरपड़े और धनाजी जाधव के नेतृत्व में मुगलों की जो दुर्दशा हुई, उसका वर्णन कम ही किया जाता है। दक्खन जीतने के लिए आया औरंगजेब यहाँ ऐसा उलझा कि वह जिंदा आगरा नहीं लौट सका। मराठा शूरवीरों ने दक्खन में ही उसकी कब्र खोद दी। लेखक गिरीश जोशी ने औरंगजेब की हताश मृत्यु का बहुत सटीक और विस्तृत वर्णन 'अनादि समर' में किया है।

लेखक ने ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ वास्तविक इतिहास लिखा है। ऐतिहासिक पत्रों को मूल रूप में शामिल करके पाठकों को उनका विश्लेषण करने का अवसर भी दिया गया है। संकट के समय समर्थ रामदास स्वामी द्वारा छत्रपति शंभूराजे को लिखा गया प्रेरक पत्र (मूल मराठी एवं हिंदी अर्थ सहित) और शंभूराजे द्वारा आमेर के राजा राम सिंह को लिखा गया संस्कृत पत्र, सबको पढ़ना चाहिए। ये पत्र उनके व्यापक दृष्टिकोण और स्वधर्म निष्ठा को उजागर करते हैं। इसके साथ ही, लेखक ने मराठों की युद्धनीति और साहस को वर्तमान संदर्भों से जोड़ते हुए, छत्रपति शिवाजी महाराज और शंभूराजे के पराक्रम की तुलना आधुनिक भारतीय सेना की 'सर्जिकल स्ट्राइक' की परंपरा से की है।

वामपंथी एवं मुस्लिम इतिहासकारों ने एक बड़ा झूठ यह स्थापित किया कि अंग्रेजों के आने से पहले तक भारत पर मुस्लिम बादशाह का शासन था। यह बहुत बड़ा झूठ है। यह पुस्तक इस तथ्य को मजबूती से स्थापित करती है कि भारत का शासन अंग्रेजों ने मुगलों से नहीं, बल्कि मराठों से लिया था। स्मरण रहे कि अंग्रेजों ने मराठों के साथ 1818 में तीसरे युद्ध में जीत के साथ भारत पर अपना प्रभाव जमाया था। उस समय कथित मुगल बादशाह तो मराठों का पेंशनभोगी मात्र था। लेखक ने विदेशी यात्रियों (जैसे निकोलाओ मनुची) और मुगल इतिहासकारों (जैसे भीमसेन सक्सेना और साकी मुस्तैद खान) के उद्धरणों का उपयोग करके औरंगजेब की छावनी में फैली भुखमरी, बीमारी और गंदगी का यथार्थवादी चित्रण किया है।

कहना होगा कि लेखक गिरीश जोशी की लेखन शैली अत्यंत प्रवाहपूर्ण, देशभक्तिपूर्ण और ओजस्वी है। वे पाठकों के मन में छत्रपति शंभूराजे के प्रति श्रद्धा और उनके बलिदान के प्रति सम्मान जगाने में पूरी तरह सफल रहे हैं। भाषा का प्रवाह सरल-सहज है, जिससे यह इतिहास आम जनमानस तक आसानी से पहुँच सकता है। 'अनादि समर' जैसी पुस्तक यह स्पष्ट करती है कि किसी राष्ट्र की नींव को मजबूत करने के लिए कैसे एक 'छावा' (शेर के बच्चे) को अपना सब कुछ मिटाकर नींव का पत्थर बनना पड़ता है। इतिहास के विद्यार्थियों, युवाओं और राष्ट्रप्रेमियों के लिए यह एक अत्यंत पठनीय और प्रेरणादायक पुस्तक है। ■

(समीक्षक माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय में सहायक प्राध्यापक हैं।)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की एक सशक्त यात्रा

डॉ. भूपेन्द्र कुमार भगत

भारतीय मानस आस्तिक मानस है। इस मानस की निर्मिति के मूल में सदियों से चली आ रही भारतीय संस्कृति और उसका दर्शन है जो भारत के चिंतन और जीवन शैली में रचे-बसे हैं। भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन के विभिन्न अंग उपांग जैसे कला, साहित्य, भाषा, वेशभूषा, भोजन, भवन, रीति रिवाज, मान्यताएं आदि सब कुछ धर्म के साए में पल्लवित और पुष्पित हुए हैं और वो धर्म अनिवार्यतः सनातन हिन्दू धर्म है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों-उपांगों में द्दष्टव्य इस चेतना को हिंदुत्व की चेतना कहा जाता है। अतः हिंदुत्व, जो भारतीय सभ्यता, संस्कृति, दर्शन आदि से निर्मित है और जो भारतीय जनमानस का प्राण तत्व है, की उपेक्षा कर भारतीय समाज एक राष्ट्र और एक देश के रूप में न तो संगठित हो सकता है और ना ही विकसित। ऐसे में भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कार्य आवश्यक हो जाता है। सदियों से सभ्यतागत परतंत्रता के कारण, जो भारतीय जनमानस विकृत और विशृंखल हो चुका है, हिंदुत्व की उस सांस्कृतिक भावधारा के पुनर्जागरण का कार्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ लगभग सौ वर्षों से कर रहा है, जिसके सकारात्मक परिणाम समाज जीवन में दिखलाई पड़ रहे हैं। भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की यह सशक्त यात्रा अपनी द्रुतगति से निरंतर गतिमान है।

भारत ने सदियों विदेशी आक्रांताओं का सामना किया, उनसे युद्ध लड़े, राजनैतिक, सांस्कृतिक यातनाएं, प्रताड़नाएं, परतंत्रताएं झेलीं, पर वह अपनी सनातनी हिंदुत्व की आस्तिक मनोभावनाओं के कारण अपनी सांस्कृतिक जातीयता की रक्षा कर जीवित रहा और आज भी अपनी उन्हीं शक्तियों

के कारण अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के मात्र 75-77 वर्षों में ही न सिर्फ राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि वैश्विक स्तर पर अपनी सकारात्मक पहचान बनाने में सफल हुआ है। हालांकि वो बात अलग है कि स्वतंत्रता के पश्चात देश की बागडोर अधिकांशतः जिस वैचारिकी के हाथों में थी, अगर उसके हाथ न होकर आज के वैचारिकी के हाथ होती तो आज भारत की स्थिति बहुत बेहतर होती। पिछले एक डेढ़ दशक में भारत अपनी स्वतंत्रता के बाद के अब तक के सर्वोच्च स्तर पर जा पहुंचा है और उसकी यह गति उत्तरोत्तर गतिमान है। इस गति के मूल में सबसे बड़ी भूमिका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की है, जिसने गत सौ वर्षों से जिस भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का बीड़ा उठा रखा है, उस सशक्त यात्रा का यह एक राजनीतिक पड़ाव है। संघ भारत की स्वतंत्रता के सौ वर्ष के बाद के भारत की स्वर्णिम छवि को लेकर चल रहा है, जहां पहुंच कर भारतीय समाज और संघ एकमेक हो जाएंगे और भारत हिन्दू राष्ट्र होगा।

संघ के उद्भव काल अर्थात् 1925 के कालखंड को देखें तो देश में वह काल एक ओर ब्रिटिश सत्ता का था, जिसके द्वारा राजनीतिक शक्तियों का उपयोग कर भारत को सांस्कृतिक दृष्टि से भी परतंत्र बनाने का और विकास के नाम पर तथाकथित आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को थोपना था। वहीं यह काल इस ब्रिटिश सत्ता से लड़ रहे एक ओर उन राजनीतिक दलों और क्रांतिकारियों का था, जो भारतीय जनमानस की प्राण शक्ति को जाने बिना सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे। वहीं दूसरी ओर भारतीय बुद्धिजीवी, विद्वान, विचारक, मनीषी भारतीय समाज और संस्कृति में विभिन्न काल खंडों में विभिन्न आक्रमणकारी सभ्यताओं और उनकी संस्कृति से और कालान्तर से आए विकृतियों रूपी क्षेपकों को हटाकर भारतीय समाज के सुधार कार्य में लगे लगे थे। इस काल खंड में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध मुख्यतः दो वैचारिक धाराएं दिखलाई पड़ती हैं - एक तो देश के राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के शोषण, अत्याचार आदि का भय दिखा कर आम जनता को ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध गोलबंद कर रही थीं। दूसरी वह जो समाज में विभिन्न समितियां, संगठन आदि बनाकर समाज सुधार का कार्य कर रहे थे, आधुनिकता और भारतीयता का समन्वय अर्थात् पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों का समन्वय जिसके मूल में था। इस काल खंड में यही दो सामाजिक वैचारिक धाराएं प्रबल रहीं। जिसमें पहली वैचारिक धारा ने भारत को राजनैतिक स्वतंत्रता दिलाई, "Transfer of Power" ('शक्ति का हस्तांतरण') कराया, जिसके प्रणेता महात्मा गांधी और कांग्रेस थी। दूसरे धारा ने समाज में समाज सुधार का कार्य कर समाज में व्याप्त कुरीतियों को ठीक करने और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव को कम करने का कार्य किया।

पर उसी समय भारत माता के एक सच्चे सपूत, मनीषी, विचारक परम पूजनीय डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार जी ने यह देखा कि देश की सांस्कृतिक मुक्ति के लिए इतना पर्याप्त नहीं। उन्होंने कांग्रेस से अपना नाता तोड़कर विजयादशमी के दिन 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की, जिसकी दृष्टि के मूल में भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सारस्वत उद्देश्य निहित था, कारण कि अब तक भारतीय वैचारिक धाराएं उस दृष्टि से विकसित नहीं हो सकीं थीं। पूजनीय डॉक्टर साहब इस बात को भली भांति समझ गए थे कि अगर भारतीय जनमानस का सांस्कृतिक पुनर्जागरण हो जाए तो वह समाज स्वयं अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढ लेगा और फिर कभी परतंत्र नहीं होगा। सदियों से कहीं धूमिल पड़े उस आस्तिक चेतना शक्ति को जगाने का एक मात्र मार्ग हिंदुत्व का मार्ग ही है और संघ उस दिशा में आगे बढ़ा और उसके सकारात्मक परिणाम आज हमारे सामने हैं।

भारतीय जनमानस के पुनर्जागरण के लिए सबसे प्रमुख कार्य व्यक्ति-निर्माण था। भारतीयों में अपनी गौरवशाली सनातन संस्कृति, उसकी परंपरा, विरासत, वैचारिकी की समझ को जागृत करना और नई पीढ़ियों को उस परम्परा से जोड़ना इस व्यक्ति-निर्माण के लिए आवश्यक था। इसके लिए समाज में इस निमित्त संघ ने अपनी शाखाएं प्रारंभ की, जहां सामाजिक सरोकार के मुद्दों पर विचार विमर्श, शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद आदि के माध्यम से विचार-निर्माण से व्यक्ति-निर्माण का कार्य हुआ। समय समय पर समाज के सरोकार से जुड़े विभिन्न कार्यक्रम जोड़े गए, नए प्रकल्पों की स्थापनाएं हुईं और व्यक्ति निर्माण का यह कार्य उत्तरोत्तर चलता रहा। और आज संघ अपनी स्थापना के 100वें वर्ष में आकर न सिर्फ देश में बल्कि विश्व भर में हिंदुओं को संगठित करने और अपनी गौरवशाली संस्कृति के पुनर्जागरण का कार्य, अपनी हजारों

हजार शाखाओं, सैकड़ों प्रकल्पों, आनुषंगिक संगठनों, हजारों समर्पित और करोड़ों गृहस्थ कार्यकर्ताओं के माध्यम से कर रहा है।

संघ ने देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति को एक साथ जोड़ा। आधुनिक काल की दृष्टि से भारत को सिर्फ राजनीतिक इकाई की दृष्टि से न देखकर उसे एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में भी समझने का मार्ग प्रशस्त किया। भारत राजनैतिक रूप में एक देश है, पर सांस्कृतिक रूप में एक राष्ट्र भी है, जिसकी अपनी एक गौरवशाली महान परम्परा है, उस सांस्कृतिक चेतना के पुनर्जागरण का कार्य संघ ने किया। साथ ही परम्परा से प्राप्त हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को हमारी सभ्यतागत जड़ों से पुनः जोड़ने का कार्य संघ ने किया। आधुनिक युग में छिड़े इस विमर्श, कि भारतीय दर्शन, साहित्य, कला आदि धार्मिक हैं अथवा सांप्रदायिक हैं, उनका आधुनिकता से कोई वास्ता नहीं हो सकता, को खंडित करते हुए संघ ने हिंदुत्व के साए में विकसित हमारी संस्कृति, हमारे दर्शन के शाश्वत मूल्यों को आत्मसात किया और भारतीय आस्तिक जनमानस को उससे जोड़ा और उसपर गर्व करने का भाव भरा।

आधुनिकता के नाम पर हमें दोयम बताने वाली पाश्चात्य और वामी वैचारिकी को पीछे कर संघ अपनी संस्कृति, अपने दर्शन, अपनी भाषा, अपना साहित्य, अपने विचारकों, अपने मनीषियों के सहारे हिंदुत्व को लेकर आधुनिकता की ओर बढ़ा। संघ ने भारतीयों को पाश्चात्य और तथाकथित आधुनिक दृष्टि से अपनी संस्कृति, अपने दर्शन को देखने के बजाए अपनी संस्कृति, अपने दर्शन के आईने में आधुनिकता और पाश्चात्य संस्कृति को देखने की वैचारिकी तैयार की जिसके मूल में आध्यात्मिकता, सूक्ष्मता है, सर्वे भवन्तु सुखिनाः, वसुधैव कुटुंबकम्, जोई जोई पिंडे सोई ब्रम्हांडे, का भाव है, हर कण में ईश्वर का वास है, प्रकृति से और इस जगत में विद्यमान सभी जीव जंतुओं, पशु पक्षियों सभी से सह अस्तित्व की भावना है, जिसमें संपूर्ण जगत सभी प्राणीमात्र का कल्याण छिपा है।

संघ अपने शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर चुका है और संघ के साथ भारत अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के अमृत काल में है। अभी भारत के सांस्कृतिक स्वतंत्रता का कार्य बाकी है, जिस संकल्प को संघ के साथ भारत और संपूर्ण हिंदू समाज लेकर चल रहा है। हम जब अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के सौ वर्ष मना रहे होंगे, तब भारत अपनी सांस्कृतिक स्वतंत्रता के काल में भी प्रवेश कर जाए, इसके लिए हम सब कटिबद्ध हैं। यह इस काल खंड के भारतीयों का परम सौभाग्य है कि भारत की सांस्कृतिक स्वतंत्रता के इस सारस्वत यज्ञ में अपनी आहुति देने का अवसर प्राप्त हो रहा है। आज से सौ वर्षों के बाद जब हमारी भावी पीढ़ियां इस काल खंड का स्मरण करेंगी तो उन्हें इस काल खंड के भारतीयों पर गर्व होगा, उनके इस संगठन पर गर्व होगा जिसने भारतीय जनमानस के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की एक सशक्त यात्रा चलाई। ■

संपर्क: 9650895357
(bhupkb@gmail.com)

"समरसता" की वर्तमान दिशा हिंदुत्व को सशक्त कर रही है या दुर्बल ?

कुमार दीपांशु

हिंदू समाज के भीतर लंबे समय से एक सूक्ष्म लेकिन गहरी वैचारिक प्रक्रिया चल रही है, एक ऐसी प्रक्रिया जो परंपरा, राजनीति और आधुनिकता के संगम पर खड़ी होकर शनैः-शनैः धर्म के मूलाधार को पुनर्परिभाषित कर रही है। "Subaltern Hindutva" और "समरसता" जैसे आकर्षक शब्द आज इस प्रक्रिया के प्रमुख उपकरण बन गए हैं। सतह पर ये विचार उदार, समावेशी और प्रगतिशील प्रतीत होते हैं, लेकिन गहराई में जाने पर इनके भीतर एक ऐसा परिवर्तन छिपा है जो धर्म की संरचनात्मक शक्ति को दुर्बल कर सकता है। इस बदलाव को समझने के लिए हमें केवल धार्मिक विमर्श तक सीमित नहीं रहना चाहिए अपितु हमें सत्ता, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान को एक साथ देखना चाहिए।

"Subaltern Hindutva" का मूल तर्क है कि धर्म का नियंत्रण किसी विशेष परंपरा, शास्त्र या विद्वान वर्ग के पास न होकर हर व्यक्ति और समुदाय के हाथ में होना चाहिए। इसे "समरसता" का विचार और सशक्त करता है, जहाँ सभी भेद मिटाकर एक सरल, समान और सर्वस्वीकार्य धार्मिक पहचान गढ़ने पर बल है। सुनने में यह व्याख्या अत्यंत लोकतांत्रिक लगती है। हर व्यक्ति को अपने तरीके से धर्म जीने का अधिकार - यह विचार कितना आकर्षक है! लेकिन यहीं एक गंभीर प्रश्न खड़ा होता है: क्या "लोकतंत्रीकरण" का मतलब परंपरागत संरचनाओं को पूरी तरह नष्ट कर देना है, या उन्हें समझकर संतुलित तरीके से पुनर्पाठित करना है? जब इस लोकतंत्रीकरण को इस रूप में लागू किया जाता है कि वह शास्त्रों, परंपराओं और अनुशासन को अप्रासंगिक घोषित कर दे, तो वह सुधार नहीं, बल्कि संरचनात्मक विघटन बन जाता है।

हिंदू धर्म का दार्शनिक और व्यावहारिक ढांचा सदियों से वेदों, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों और आगमिक परंपराओं पर टिका रहा है। इन ग्रंथों का निर्माण, संरक्षण और जीवंत रखना एक विशिष्ट विद्वान वर्ग ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी किया; जिन्होंने अध्ययन, साधना और गुरु-शिष्य परंपरा को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

आज जो परिवर्तन हो रहे हैं या जिस परिवर्तन को लाने का प्रयास किया जा रहा है, वे क्या सिर्फ सामाजिक सुधार हैं, या वे उस ज्ञान-संरचना को हाशिए पर धकेलने का प्रयास हैं, जिसने इन ग्रंथों को जन्म दिया? जब किसी वर्ग की भूमिका को मात्र "हेजेमनी" (Hegemony) कहकर खारिज कर दिया जाता है और उनके योगदान को पूरी तरह नकार दिया जाता है, तो यह वैचारिक पुनर्संतुलन नहीं रह जाता अपितु ज्ञान-परंपरा का अपमान और विघटन बन जाता है।

दुनिया के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ Subalternism अर्थात हित-अधिकार दिलाने के नाम पर स्थापित संस्कृति और ज्ञान-संरचना को जानबूझकर कमजोर किया गया और परिणाम विनाशकारी रहे।

चीन की सांस्कृतिक क्रांति (1966-1976) इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है। माओ त्से-तुंग ने "पुरानी संस्कृति" को मिटाने के लिए किसानों और मजदूरों (subaltern) को सशक्त करने का नारा दिया। परंपरागत कन्फ्यूशियन ग्रंथों, मंदिरों, मूर्तियों और बुद्धिजीवियों को "रूढ़िवादी" घोषित कर नष्ट कर दिया गया। परिणाम क्या रहा? हजारों वर्ष पुरानी सांस्कृतिक धरोहर का विनाश, लाखों मौतें और समाज में गहरा मानसिक विखंडन। आज भी चीन उस घाव से पूरी तरह उबर नहीं पाया है।

इसी तरह सोवियत संघ में बोल्शेविक क्रांति के बाद proletarian संस्कृति के नाम पर रूसी ऑर्थोडॉक्स चर्चों को तोड़ा गया, बुद्धिजीवियों और कुलीन वर्ग को "दमनकारी" बताकर उन्हें सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक रूप से "अछूत" बना दिया गया। परंपरागत रूसी साहित्य, कला और धार्मिक प्रतीकों को अप्रासंगिक घोषित कर दिया गया। परिणाम क्या रहा? सांस्कृतिक शून्यता, नैतिक पतन और अंततः साम्राज्य

का विखंडन।

कंबोडिया में खमेर रूज शासन (1975-1979) और भी भयानक था। पोल पोट ने "वर्ष शून्य" (Year Zero) के तहत पुरानी संस्कृति को पूरी तरह मिटाने के लिए शहरी बुद्धिजीवियों और शिक्षित वर्ग की हत्या करके केवल एक वर्ग को "शुद्ध" subaltern मानकर सत्ता सौंप दी। परिणाम क्या रहा? लगभग 25 लाख मौतें, मंदिरों-विद्यालयों का विनाश और एक पूरी सभ्यता का सांस्कृतिक विस्मरण।

ये उदाहरण दर्शाते हैं कि जब "हेजेमनी" को समाप्त करने के नाम पर संपूर्ण ज्ञान-संरचना को ही तोड़ दिया जाता है तब सुधार नहीं बल्कि सभ्यतागत पतन होता है। वर्तमान हिंदू समाज में भी यही खतरा दिखता है। यदि शास्त्रों को अप्रासंगिक, परंपरागत विधियों को "रूढ़िवाद" और ज्ञान-परंपरा को खारिज कर दिया जाए, तो यह विघटन अवश्यंभावी है।

धर्म को पूर्णतः "democratic" बनाने का विचार भी इसी द्वंद्व से भरा है। अगर हर व्यक्ति अपनी व्याख्या करने का अधिकार प्रयोग करता रहे तो क्या कोई साझा ढांचा बचेगा? यदि कोई केंद्रीय सिद्धांत नहीं बचा तो धर्म मात्र व्यक्तिगत पसंद बनकर रह जाएगा। संरचित परंपरा व्यक्तिगत अनुभव में बदल जाएगी और उसकी सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे सूख जाएगी।

"समरसता" का विचार मूलतः सकारात्मक है- भेदभाव कम करना और एकता बढ़ाना, परंतु जब इसे राजनीतिक औजार बनाया जाता है, तो भेदों को "समझने" के स्थान पर भेद को "मिटाने" का प्रयास होता है, विविध परंपराओं को एकरूप बनाने का प्रयास होता है और जटिलता को समस्या मान लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप धर्म अपनी गूढ़ता और आधार खोकर एक सतही, सरल पहचान में सिमट जाता है।जब शास्त्र और परंपरा कमजोर पड़ते हैं, तो उनके प्रतीक भी अपना अर्थ खो देते हैं। विग्रह मात्र सजावटी वस्तु बन जाती है, अग्नि ऊर्जा का स्रोत भर रह जाती है, दीपक आध्यात्मिक प्रतीक होने के बजाय सिर्फ प्रकाश का साधन दिखने लगता है। हर चीज के पीछे "utility" खोजने की आदत धर्म के आध्यात्मिक और दार्शनिक आयाम को धीरे-धीरे सूखा देती है। मनोवैज्ञानिक रूप से देखें तो यह लोगों को सरल और सुविधाजनक अनुभव देती है बिना किसी जटिल अनुष्ठान या गहन अध्ययन के परंतु समाजशास्त्रीय रूप से यह मानदंडों का क्षरण और पहचान का विखंडन पैदा करती है। साझा मूल्य कमजोर होने से समाज की सामूहिक पहचान भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

दीर्घकाल में जब धर्म का ढांचा कमजोर होता है, तो वह बाहरी प्रभावों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है। यह प्रभाव कभी सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में, कभी प्रत्यक्ष रूपांतरण के रूप में आता है। खतरा केवल धर्मांतरण का नहीं, बल्कि सभ्यतागत विरलन (civilizational dilution) का है, जहाँ एक परंपरा अपनी विशिष्टता और गहराई खो देती है।

क्या ये सब स्वाभाविक रूप से हो रहा है, या यह एक सुनियोजित वैचारिक अभियान का हिस्सा है? क्या पारंपरिक ज्ञान-व्यवस्था को हाशिए पर धकेलकर, उसके संरक्षकों की भूमिका को नकारकर, एक नई, सरल, भावुक धार्मिक पहचान को स्थापित करने की दिशा में काम हो रहा है? घोषित उद्देश्य समरसता और लोकतांत्रिकरण (हितअधिकार दिलाने का) हो सकता है, परंतु परिणाम संरचनात्मक दुर्बलता के रूप में प्रत्यक्ष दिख रहा है।

व्यवस्था और समाज में निरंतर सुधार निस्संदेह आवश्यक है। असमानताओं को दूर करना भी आवश्यक है परंतु सुधार और विघटन के बीच एक महीन रेखा होती है। समरसता का अर्थ विविधता को मिटाना नहीं, बल्कि उसे संतुलित करना होना चाहिए। लोकतंत्रीकरण का अर्थ संरचना को तोड़ना नहीं, बल्कि उसे अधिक समावेशी बनाना होना चाहिए। परंपरा का अर्थ अंधानुकरण नहीं, बल्कि समझ और विवेक के साथ उनका पालन करना होना चाहिए।

"Subaltern Hindutva" और "समरसता" जैसे विचार अपने आप में आकर्षक हैं, लेकिन बिना संतुलन के लागू किए जाने पर ये धर्म की जड़ों को दुर्बल कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में शास्त्र निष्क्रिय ग्रंथ बनते चले जाते हैं, परंपराएँ रूढ़िवाद कहलाने लगती हैं और आस्था सुविधा में बदल जाती है। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि परिवर्तन होना चाहिए या नहीं, बल्कि यह है कि परिवर्तन की दिशा क्या होनी चाहिए?

किसी भी सभ्यता की शक्ति उसकी जड़ों और शाखाओं, दोनों के संतुलन में होती है। यदि जड़ों को ही निर्बल कर दिया जाए, तो शाखाओं की हरियाली भी अधिक समय तक नहीं टिक सकती। हिंदू समाज को इस सच्चाई को समझकर आगे बढ़ना होगा, सुधार अवश्य हो परंतु विघटन के मोल पर नहीं! ■

संघ, सत्ता और सिनेमा: बदलते भारत की नई कहानी

ओम लवानिया 'प्रोफेसर'

धुरंधर-द रिवेंज की सफलता के बाद अभिनेता रणवीर सिंह के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मुख्यालय, नागपुर पहुँचने की चर्चा ने बॉलीवुड में हलचल पैदा कर दी। फ़िल्मों के प्रमोशन और सफलता पर कलाकारों का दरगाहों में जाकर चादर चढ़ाना सामान्य बात रही है, लेकिन यह पहली बार था जब किसी बड़े बॉलीवुड स्टार ने डॉक्टर केशव बलिराम हेडगेवार को श्रद्धांजलि अर्पित की और संघ प्रमुख मोहन भागवत के साथ लंबी बैठक की। इस घटना ने केवल सिनेमा जगत् ही नहीं, बल्कि देश की बदलती सांस्कृतिक और वैचारिक दिशा को लेकर भी नई बहस छेड़ दी। क्योंकि संघ सनातन और हिंदुत्व की विचारधारा लेकर चलता आया है। जबकि बॉलीवुड इससे दूर रहा है या कहे किया गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर चुका है। इस अवसर पर संघ ने समाज के प्रभावशाली वर्गों के साथ संवाद का अभियान शुरू किया, जिसमें सिनेमा जगत विशेष रूप से केंद्र में रहा। मुंबई में आयोजित एक कार्यक्रम में सरसंघचालक मोहन भागवत ने बॉलीवुड की अनेक प्रमुख हस्तियों के साथ मुलाकात की। इस बैठक में सलमान ख़ान, रणबीर कपूर, अक्षय कुमार, करण जौहर, विक्की कौशल, जैकी श्रॉफ, रवीना टंडन और शिल्पा शेट्टी बड़े नाम शामिल हुए। यह संवाद ऐसे समय में हुआ है जब महाराष्ट्र और केंद्र दोनों स्तरों पर भारतीय जनता पार्टी सत्ता में है, और देश की सांस्कृतिक राजनीति में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दे रहा है।

25 सितंबर 1925 को डॉक्टर केशव बलिराम हेडगेवार ने नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की थी। संभवतः उस समय उन्होंने यह कल्पना अवश्य की होगी कि एक दिन संघ केवल सामाजिक संगठन न रहकर भारत की वैचारिक धारा को भी प्रभावित करेगा। संघ का मूल उद्देश्य व्यक्ति निर्माण था, क्योंकि उसका विश्वास रहा कि सशक्त व्यक्ति ही सशक्त समाज और सशक्त राष्ट्र का आधार बनता है। भारत को सांस्कृतिक रूप से जागरूक, संगठित और अनुशासित राष्ट्र के रूप में स्थापित करने का जो स्वप्न तब देखा गया था, उसका प्रभाव आज देश की राजनीति और शासन व्यवस्था में दिखाई देता है।

आज भारत सरकार में प्रधानमंत्री, गृहमंत्री, रक्षामंत्री सहित कई बड़े पदों पर संघ प्रचारक विराजमान हैं, जिनका वैचारिक परिवेश संघ से जुड़ा हुआ है। राज्यों में भी अनेक मुख्यमंत्री और मंत्री संघ की शाखाओं से निकले हैं। उनके व्यक्तित्व निर्माण के पीछे संघ की कार्यशैली और प्रशिक्षण को महत्वपूर्ण माना जाता है।

2014 में नरेंद्र मोदी के पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आने के बाद देश की राजनीतिक और वैचारिक दिशा में बड़ा बदलाव महसूस किया गया, बल्कि देश के बहुसंख्यक समुदाय ने उन्हें इसी कार्य के लिए चुना था। भारतीय जनता पार्टी का विस्तार केवल चुनावी राजनीति तक सीमित नहीं रहा, बल्कि सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्रों में भी उसका प्रभाव बढ़ा। लंबे समय से स्थापित नैरेटिव और प्रोपगैंडा ने राष्ट्र और संस्कृति का बड़ा नुक़सान पहुंचाया है।

संघ जमीनी स्तर पर अवश्य सक्रिय रहा है, लेकिन कोई भी विचारधारा, चाहे वह कितनी ही प्रभावशाली क्यों न हो, सत्ता के बिना केवल नैतिक उपदेश बनकर रह जाती है। विचारों को धरातल पर उतारने के लिए सत्ता का सारथी होना आवश्यक होता है।

किसी भी विचारधारा का सौ वर्षों तक जीवित और प्रासंगिक बने रहना आसान नहीं होता, लेकिन संघ ने

ऐसा करके दिखाया है। यह यात्रा कतई आसान नहीं रही, क्योंकि इस संघर्ष में प्रतिबंध भी शामिल रहा है। 1948 में महात्मा गांधी की हत्या के बाद, 1975 के आपातकाल के दौरान और 1992 में बाबरी ढाँचा विध्वंस के बाद संघ पर प्रतिबंध लगाए गए। इसके बावजूद संगठन निरंतर सक्रिय रहा। इसकी शक्ति उन स्वयंसेवकों के निष्ठा भाव से आती रही, जिनके भीतर अनुशासन, धैर्य और सहिष्णुता जैसे मूलभूत गुणों का केंद्र समाहित है; अपने समाज और राष्ट्र के लिए अथक परिश्रम में समर्पित है। संघ का मानना रहा कि कलयुग में युद्ध केवल शस्त्रों से नहीं, बल्कि विचारों और विचारधाराओं से लड़े जाते हैं।

विचारधारा की इस लड़ाई का प्रभाव सिनेमा जगत् में भी दिखाई देता है। अभिनेता गोविंदा के "जय श्रीराम" उद्घोष का उदाहरण इसी बदलते वातावरण से जोड़कर देखना चाहिए। उन्होंने कहा था, "आप लोगों के साथ, इस भूमि में इससे पहले मैंने जो कभी नहीं कहा, मैं वह कह रहा हूँ। जो तकलीफ़ थी, भय था, निकल चुका है।" यह बयान इस प्रश्न को जन्म देता है कि आखिर कलाकारों के भीतर ऐसा कौन-सा भय था, जिसने उन्हें अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तक सीमित कर दिया था।

कला स्वभावतः निष्पक्ष होती है, लेकिन जब कलाकार स्वयं भय, दबाव या वैचारिक प्रभाव में हो तो रचनात्मकता की जगह नैरेटिव और प्रोपगैंडा हावी होने लगते हैं। ऐसा भारतीय सिनेमा, विशेषकर बॉलीवुड, का उपयोग वैचारिक प्रभाव स्थापित करने के लिए किया गया। फिल्मों के माध्यम से भारतीय संस्कृति और सनातन परंपराओं को विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया, यहाँ तक कि कुछ मौकों पर उनका डेंगू और मलेरिया कहकर उपहास भी किया गया।

संघ और भाजपा भारत की संस्कृति, साहित्य, कला और बौद्धिक परंपरा को पुनः प्राचीन स्वरूप में सशक्त करने के प्रयासरत है। इससे व्यवस्थाओं और नैरेटिव्स को चुनौती मिल रही है, जिन्हें पिछली सरकारों ने खड़ा किया है और जो भारत की सांस्कृतिक विरासत के विरुद्ध हैं।

सत्ता और विचारधारा का संबंध सदैव गहरा रहा है। सत्ता के बिना विचारधारा अपंग हो जाती है, जबकि विचारधारा के बिना सत्ता दिशाहीन।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने भी बॉलीवुड के साथ बैठकों में फिल्म निर्माताओं से ऐसी फिल्मों के निर्माण पर ज़ोर दिया था जो भारत की उपलब्धियों, इतिहास और सांस्कृतिक गौरव को दुनिया के सामने प्रस्तुत कर सकें।

भारतीय सिनेमा में भी इस बदलाव की झलक दिखाई देने लगी है। बॉलीवुड अब उन विषयों पर फिल्में बना रहा है, जिन्हें लंबे समय तक मुख्यधारा में जगह नहीं मिली। 'द कश्मीर फाइल्स' कश्मीर घाटी से हिंदुओं के पलायन और हिंसा की कहानी को सामने लाती है, जबकि 'द केरला स्टोरी' लव जिहाद और कट्टरपंथ जैसे मुद्दों को केंद्र में रखती है। कई ऐसी रिपोर्ट्स है, इन फिल्मों ने उस पक्ष को सामने रखा, जिसे वर्षों तक दबाया गया।

इसी क्रम में निर्माता नमित मल्होत्रा और निर्देशक नितेश तिवारी भारतीय सिनेमा की सबसे महंगी फिल्म रामायण लेकर आ रहे हैं। ट्रेड का मानना है कि ऐसी फिल्में भारतीय इतिहास, संस्कृति और परंपराओं को वैश्विक स्तर पर नए रूप में प्रस्तुत करेंगी। हालांकि यह भी सच हैं कि बॉलीवुड अभी पूरी तरह वैचारिक संघर्षों से मुक्त नहीं हुआ है, लेकिन बदलाव की प्रक्रिया तेज़ हो चुकी है। इसी बीच आदित्य धर की धुरंधर बॉलीवुड के पारंपरिक सिस्टम के टूटने का बड़ा संकेत हैं। 'द कश्मीर फाइल्स' और 'द केरला स्टोरी' शुरुआत भर थी, लेकिन धुरंधर सिर्फ फ़िल्म नहीं बल्कि सुनामी है। इसके साथ बॉलीवुड सिस्टम और ट्रेड पूरी तरह हिल चुका है। उन्हें समझ नहीं आ रहा है कि आखिर क्या हुआ है। तभी तो फ़िल्म के प्रति इतनी नकारात्मकता फैलाई गई। इस फ़िल्म ने बॉलीवुड के बड़े साहब से पर्दा उठाया है; जिसके साये में रहकर बॉलीवुड ने प्रॉपगैंडा और नेरेटिव परोसा है।

वहीं दूसरी ओर, बॉलीवुड सिस्टम को क्रैक करना आसान नहीं है। सुखद है कि इसे कई मोर्चे पर तोड़ा जा रहा है। दक्षिण भारतीय सिनेमा के पैन भारत विस्तार ने भी बॉलीवुड की एकाधिकार वाली स्थिति को चुनौती दी है और दक्षिण भारतीय फ़िल्मों ने काफ़ी दबाव क्रिएट किया है। आने वाले समय में भारतीय सिनेमा से एक ही स्वर गूंजेगा, "है प्रीत जहाँ की रीत सदा, मैं गीत वहाँ के गाता हूँ भारत का रहने वाला हूँ, भारत की बात सुनाता हूँ।" ■

व्यक्ति निर्माण की मूक साधना

प्रशांत सौरभ

एक कहावत है कि 'सबसे बड़ा रोग, क्या कहेंगे लोग'। हालांकि जिस परिप्रेक्ष्य में यह कहावत प्रयुक्त होती है उस परिप्रेक्ष्य में इसे सही कहा जा सकता है। लेकिन कुछ मामले में यह रोग नहीं है, बल्कि लोग क्या कहेंगे, समाज क्या कहेगा, यह डर आवश्यक होता है। आज समाज जिस तेजी से पतन की ओर जा रहा है, इसका कारण कहीं ना कहीं इसी डर का अभाव है। जिस व्यक्ति को इस बात से फर्क ही नहीं पड़ता कि उसके किसी गलत कदम से समाज उसे किस नजर से देखेगा या उसके परिवार की प्रतिष्ठा में कितनी हानि होगी, तो फिर भला गलत काम करने से वह पीछे क्यों हटेगा। वह तो सीना ठोककर कुछ भी गलत करने को तैयार रहेगा। आजकल ऐसी ऐसी घटनाएं हो रही है जिसे सुनकर आश्चर्य होता है कि भला ऐसा भी हो सकता है क्या! लेकिन उन घटनाओं की जड़ में जाने पर पता चलता है कि घटना को कारित करने वाले लोग इसी सोच के थे, जिन्हें समाज के कुछ भी कहने से फर्क नहीं पड़ता।

मैं बहुत छोटा था जब पहली बार शाखा में गया था, और वहां इस डर ने पहली बार मेरा पीछा किया। पहली बार मुझे लगा कि समाज मुझे देख रहा है। मेरे चरित्र पर, मेरे आचरण पर ऐसा कोई दाग न लगे जिससे मुझे शर्मसार होना पड़े। बात आज से लगभग 20-22 वर्ष पहले की है। तब ना मोदी जी प्रधानमंत्री थे और ना हीं स्वच्छता अभियान की कोई चर्चा थी। शाखा में चंदन कार्यक्रम हुआ। चंदन कार्यक्रम का अर्थ शाखा समाप्ति के पश्चात् एक साथ मिलकर अल्पाहार करना। अल्पाहार जिस पात्र में दिया गया था उसके उपयोग के बाद निस्तारण के लिए व्यवस्था की गई थी। यद्यपि इस घटना के दो दशक से अधिक हो गए हैं, लेकिन अब तक मुझे याद है कि कूड़ेदान के रूप में छोटा सा कार्टून था और उस पर लिखा था - 'कृपया अपना पात्र यहां डालें'। मेरी आयु तब सात-आठ वर्ष रही होगी। मैंने देखा कि सब लोग उसी कार्टून में अपना पात्र डाल रहे थे। शाखा में गए तब मुझे एक दो महीने से ज्यादा नहीं हुए थे। बहुत बारीकी से मैं सारी चीजों का अवलोकन कर रहा था। यह नगर एकत्रीकरण का कार्यक्रम था। मैंने देखा कि बहुत अच्छे-अच्छे लोग आए थे। परिचय के क्रम में लोग अपने-अपने प्रतिष्ठान का नाम बता रहे थे। ये सब लोग संघ के स्वयंसेवक थे। शाखा के पश्चात जब चंदन कार्यक्रम प्रारंभ हुआ तब मैंने देखा कि खाने के क्रम में अपने आसपास गिरी हुई उच्छिष्ट वस्तुओं को भी लोग उठा लेते थे और उसे पत्ते सहित कूड़ेदान में डाल देते थे। मैं छोटा था, मैंने अपने आसपास की जूठन को उठा तो लिया लेकिन लपेट कर मैंने उसे कूड़ेदान में नहीं डाला, बल्कि बैठे-बैठे वहां से उस कूड़ेदान की ओर फेंक दिया। निशाना थोड़ा कमजोर था। दोना उस पात्र में ना जाकर उसके आसपास ही रह गया।

अचानक शाखा कार्यवाह दिनेश जी प्रकट हो गए और प्रेमपूर्वक कहा, "आप स्वयंसेवक हैं, बताइए कूड़ा इधर उधर फैलाइएगा तो लोग क्या कहेंगे।" मैंने मन में सोचा कि इसमें लोग क्या कहेंगे, एक छोटा सा पात्र कार्टून में नहीं गया तो लोग क्यों कुछ कहेंगे भला। मैं कुछ बोलता इसके पहले ही दिनेश जी ने स्वयं मेरे पत्ते को उठाकर कार्टून में डाल दिया। मुझे बहुत बुरा लगा और अपनी गलती का एहसास हुआ, और मन में जो मैं सोच रहा था उस पर पश्चाताप भी। इसके बाद से कूड़े को इधर-उधर ना फेंकना मेरी आदत बन गई। आज भी यात्रा के क्रम में जब कुछ खाता पीता हूं तो उस बचे हुए कूड़े को फेंकने की बजाय रख लेता हूं और उचित स्थान पर ही फेकता हूं। यह स्वभाव में शामिल हो गया।

ऐसे ही लोक आस्था के महापर्व छठ की समाप्ति के बाद या अन्य किसी बड़े पर्व त्यौहार के बाद हमारे शाखा वाले मैदान में कूड़े का ढ़ेर लग जाता था, और हम लोग शाखा में अगले

दिन सफाई अभियान चलाते थे। मन में यह बात आती थी कि लोग कहेंगे कि संघ के लोग शाखा लगाते हैं और यहां कितनी गंदगी फैली हुई है। हम सब अपने घर से टोकरी, कुदाल, झाड़ू आदि लेकर जाते और बड़े उत्साह से कूड़े को बटोर कर उसका निस्तारण करते थे। दुनिया भर की गंदगी हम सब मिलकर एक घंटे में ही साफ करते थे, और इस काम में बड़ा उत्साह रहता था। मुझे याद है कि हमारी शाखा जहां लगती थी वहीं एक प्राचीन नदी थी और नदी के ऊपर पुल बना था। पुल और नदी के अप्रोच के बीच में एक बड़ा सा गड्ढा बन गया था, जिसमें कई लोग दुर्घटनाग्रस्त हो गए। एक-दो दिन तक तो हम लोगों ने कुछ नहीं किया, लेकिन तीसरे दिन यह निर्णय हुआ कि सब लोग अपने घर से 10-20 रुपया लेकर आएंगे और सीमेंट, बालू, गिट्टी आदि खरीद कर उस गड्ढे को भरने का काम करेंगे। उसे घटना को मैं आज के परिपेक्ष्य से अगर तुलना करता हूं तब मुझे लगता है कि शाखा व्यक्ति निर्माण का काम कैसे करती है। मैं अगर संघ का स्वयंसेवक ना होता तो सामान्य लोगों की तरह यह सोचता कि सड़क के गड्ढे को भरने का काम प्रशासन का है उसमें भला हम अपने एक पैसे भी खर्च क्यों करें। लेकिन शाखा जाते-जाते हमारी इस तरह की विकृत सोच कब समाप्त हो गई पता ही नहीं चला। अपना रुपया- पैसा ,समय खर्च करके यदि समाज का भला होता है तो उसे जितनी जल्दी हो कर देना चाहिए। यह सोच हमारी बनती गयी। अच्छा इसी पुल वाली घटना में एक और विशेष बात यह हुई कि हम लोग दुकान से सारी सामग्री इकट्ठा कर लिये और उस गड्ढे में भर रहे थे। हम छोटे-छोटे बच्चों का हाथ किसी राजमिस्त्री से कम नहीं था। संयोग से उधर एक पत्रकार महोदय रहते थे, हम लोगों को ऐसे काम करते थे वे हमारा चित्र खींच रहे थे। लेकिन शाखा के पुराने लोगों ने उनसे आग्रह किया की चित्र मत लीजिए, यह ठीक नहीं। इस पर पत्रकारों ने उन्हें समझाया कि आप लोग अच्छा काम कर रहे हैं इसे अगर अखबार में हम छाप ही देते हैं तो आपको क्या आपत्ति है। हमारे अधिकारियों ने जो जवाब दिया वह मुझे आज भी याद है और आज भी उससे प्रेरित होता रहता हूं। उन्होंने कहा कि संघ के कार्यकर्ता कोई भी काम अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं करते। 'प्रसिद्धिपरांगमुखता' यह शब्द मैंने पहली बार सुना था। हमारे अधिकारियों ने पत्रकार बंधुओ को समझाया कि समाज के लिए कुछ अच्छा करने में छापने की कोई आवश्यकता नहीं। हालांकि पत्रकारों ने उनके आग्रह को माना नहीं और अगले दिन अखबार में हम सबकी फोटो छपी। तब हमें लगा कि हम लोग काम तो बहुत साधारण कर रहे थे लेकिन संदेश बड़ा दे रहे थे। ऐसे ही काम करते-करते आज कई दशक बीत गए। कोरोना में हमने हजारों पैकेट भोजन वितरण किया, बिना यह देखे कि लेने वाला कौन है।

आज जब संघ पर लोग किसी के विरोधी या समर्थक होने का आरोप लगाते हैं तो हंसी आती है। लोग संघ के कार्यों के बारे में अनभिज्ञ रहते हैं और फिर प्रश्न उठाते हैं तो हंसी आती है। स्वतंत्रता आंदोलन में संघ के सहभागी होने पर प्रश्न उठाया जाता है, तब हंसी आती है कि संघ ने कभी अपने प्रचार के लिए काम नहीं किया। आज कोई नाखून कटा कर शहीद हो जाता है, और उसकी शान में कसीदे पढ़े जाते हैं। लेकिन संघ के कार्यकर्ताओं ने अपना पूरा जीवन खपा दिया देश निर्माण के लिए। बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रचार के, बिना किसी नाम की इच्छा के। लेकिन आज भी संघ के प्रति जो लोग पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं वे बिना इस असलियत को जाने संघ के बारे में कुछ भी कह देते हैं, उन्हें एक-दो महीने शाखा में अवश्य आना चाहिए। मुझे लगता है कि संघ के बारे में जो भ्रांतियां हैं वह एक दो महीने में स्वतः समाप्त हो जाएंगी। ■

शताब्दी वर्ष में संघ के समक्ष नई चुनौतियां: एक देशभक्त बौद्धिक की दृष्टि में

प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह जन्मशताब्दी वर्ष है। 1925 में उसका गठन विजयदशमी के दिन हुआ था। पिछले वर्ष विजयदशमी से उनका शताब्दी वर्ष पूरा हो गया और उन्होंने देश भर में आयोजन शुरू किए हैं तथा भविष्य की भी योजना बना रहे हैं। एक राष्ट्रव्यापी और साथ ही आधुनिक विश्व, आधुनिक भारत, आधुनिक चीजों, आधुनिक विचारों और आधुनिक व्यवस्था का जानकार या तो भारत का शासन है, या कांग्रेस पार्टी है, या फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा ही है। बाकी जो हमारे धार्मिक संगठन हैं, वे बहुत प्राचीन काल से अत्यंत व्यवस्थित हैं। सारे देश में उनका विस्तार है। लेकिन उनका कार्यक्षेत्र आध्यात्मिक है, धार्मिक है। उनका काम यह बताना है कि परम सत्ता क्या है, जीवन की सार्थकता क्या है, मनुष्य और परमात्मा तथा जीव और जगत का संबंध क्या है। इन सूक्ष्म अर्थों को बताना, जिससे मानव जीवन धन्य हो जाए, उन संप्रदायों और आचार्यों का काम है।

लेकिन अभी बात आध्यात्मिक पक्ष की नहीं हो रही है, जिसमें मनुष्य अपने गुरु से, अपने परम गुरु परमात्मा की प्रेरणा से साधना करते हुए जीवन का अर्थ, परमात्मा के विषय में ज्ञान और आत्मा का स्वरूप जानता है। एक स्थिति यह है कि मनुष्य मोक्ष के लिए ही प्रेरित हो जाए, और दूसरा यह कि जब तक ऐसा नहीं हुआ है, तब तक एक मनुष्य के रूप में सार्थक जीवन कैसे जिए। उसने पिछले जन्मों के पुण्य के कारण भारतवर्ष में, हिंदू परिवार में जन्म लिया है। भारतवर्ष, जहाँ पहले केवल हिंदू परिवार ही होते थे, लेकिन पिछले लगभग हजार वर्षों से नए आसुरी प्रवाहों ने यहाँ विस्तार किया है। फिर भी मुख्य समाज तो हिंदू ही है। यदि आपने हिंदू परिवार और हिंदू समाज में जन्म लिया है, तो यह भी किन्हीं पुण्यों के कारण हुआ है। अब प्रश्न यह है कि उन पुण्यों को और कैसे बढ़ाया जाए, अपना स्वधर्म कैसे निभाया जाए, और भारत में जन्म लेने के साथ जो दायित्व मिले हैं, उनका निर्वाह कैसे हो।

हम पर कुछ ऋण हैं, जैसा हमारा सनातन धर्म सदा कहता है। उन ऋणों से उऋण कैसे हुआ जाए? ऋणों का मोचन कैसे हो? जीवन को धन्य और सार्थक कैसे बनाया जाए? इसके लिए अपने परिवार के प्रति कर्तव्य, अपने कुल की परंपरा, धर्म, रीति-रिवाजों के प्रति कर्तव्य, जिस समाज और क्षेत्र में जन्म लिया है उसके प्रति कर्तव्य, देवोपासना आदि की परंपराओं के प्रति कर्तव्य, और भारत के महान ऋषियों तथा ज्ञानियों के ज्ञान-प्रवाह के प्रति हमारा ऋण-देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन सब पर विचार आवश्यक है। जीवन को सार्थक बनाना है तो, यदि आप मोक्ष की ओर एकदम उन्मुख नहीं हुए हैं, तो आपको पुरुषार्थ करना है। धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हैं, और इनको कैसे सिद्ध किया जाए, यह जानना जरूरी है।

इन पुरुषार्थों को इस तरह सिद्ध करना होगा कि राष्ट्र के लिए जो कुछ शुभ हो, भारत के लिए जो कुछ कल्याणकारी हो, भारतीय ज्ञान परंपरा, शौर्य परंपरा, वैभव परंपरा, ऐश्वर्य परंपरा, शिल्प परंपरा और कृषि परंपरा इन सबको पुष्ट करने में हम अपनी क्या भूमिका निभा सकते हैं, यह पहचाना जाए। हर व्यक्ति में अलग-अलग योग्यता, दक्षता और विशेषता होती है। पहले अपने को पहचानना है, अपने परिवार और गुरु के द्वारा यह देखना है कि हमारा स्वधर्म क्या है, स्वभाव क्या है, और फिर व्यापक सनातन धर्म के अनुशासन में रहते हुए श्रेष्ठ कर्म करना हम सबका कर्तव्य है।

इसी भावना से 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बना था। उसकी प्रार्थना में रोज यही भाव व्यक्त किया जाता है कि मातृभूमि भारतभूमि की वंदना हो, प्रभु से ऐसा आशीर्वाद मिले कि जो कार्य हमें सौंपा गया है उसमें हम सफल हों, सनातन

धर्म का संरक्षण करें, ऋषियों के बताए मार्ग पर चलें, वीरव्रत का पालन करें, हृदय में राष्ट्र के प्रति अक्षय निष्ठा प्रज्वलित रहे, और हम लगातार काम करते हुए अपने राष्ट्र को परम वैभव में ले जाने में समर्थ हों। उनका आशय यही था कि सनातन धर्म के अनुसार अपना जीवन बनाया जाए, अभ्युदय और निश्रेयस दोनों की साधना की जाए, यथाशक्ति धर्म के संरक्षण के लिए कार्य किया जाए, इसी में भारत राष्ट्र का परम वैभव प्राप्त होगा।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रार्थना उसकी है, जो सनातन धर्म का पालन करता है, जो उसमें श्रद्धा रखता है, वह अभ्युदय के लिए भी काम करेगा, राष्ट्र के परम कल्याण के लिए भी, और धर्म के संरक्षण के लिए भी, ताकि परम वैभव प्राप्त हो सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारतवर्ष में सनातन धर्म के उत्कर्ष के लिए कार्य करने के एक विशेष प्रयोजन से बना संगठन था, और उसे विश्वास था कि यदि यह कार्य किया जाएगा तो राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त होगा। उनकी रोज की प्रार्थना में ही यह बात निहित है। इसलिए इस पर कोई शंका नहीं रह जाती।

लेकिन व्यवहार में क्या है, इस पर भी विचार होना चाहिए। सारे काम तो नहीं किए जा सकते। राष्ट्र के परम वैभव के लिए योग भी चाहिए, दर्शन भी चाहिए, रामायण, गीता, उपनिषद, वेद, वेदांग, व्याकरण, शास्त्र, कृषि, वाणिज्य, उद्योग, षिल्प, सेना, राज्य व्यवस्था, सब चाहिए। इसलिए यह संगठन यह सब कुछ नहीं करेगा। इसका मतलब यह था कि इसका एक सीमित प्रयोजन था। जब हम संघ के संस्थापक परम पूज्य डॉक्टर केशव राव बलिराम हेडगेवार का जीवन देखते हैं, तो स्पष्ट होता है कि वे क्या चाहते थे। उस समय देश के सामने कौन-सी चुनौतियाँ थीं, यह जानना पड़ेगा ताकि यह समझा जा सके कि वर्तमान में कोई नई चुनौतियाँ आई हैं या वही पुरानी चुनौतियाँ अभी भी मौजूद हैं।

उस समय जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बना, तब देश के सामने हिंदू समाज के सामने मुख्य चुनौती क्या थी? अंग्रेज राज्य कर रहे थे। जो लोग उच्च स्तर की शिक्षा प्राप्त कर चुके थे, या जो उनके केंद्रों में गए थे, जैसे कोलकाता का केंद्र या लंदन गए थे, उन सबको कई बातें समझ में आने लगी थीं। प्रथम महायुद्ध के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि यदि भारत की सेना नहीं होती, तो इंग्लैंड और फ्रांस को जर्मनी पराजित कर देता। इससे भारत का महत्व भारतीय अभिजनों की समझ में आया। मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार आदि की घोषणा करके अंग्रेजों को कहना पड़ा था कि वे धीरे-धीरे स्वायत्तता देंगे। यानी वे कुछ सीमित नियंत्रण बनाए रखेंगे, लेकिन भारत का शासन भारतीय ही करेंगे।

इससे यह समझ में आ गया था कि अंग्रेज यहाँ हमेशा रहने नहीं आए हैं। परिस्थितियाँ उन्हें जाने के लिए मजबूर कर रही हैं। कुछ दूरदर्शी लोग यह सोचने लगे थे कि आगे क्या होगा, क्योंकि अंग्रेजों पर दबाव बनाकर उन्हें यहाँ से भेजना ही पड़ेगा। लेकिन फिर आगे क्या? उस समय हिंदू समाज के सामने दो चीजों का अनुभव हुआ। एक तो यह कि अंग्रेज बहुत कूटनीतिज्ञ हैं, लेकिन वे यहाँ खुलकर ईसाइयत का प्रचार नहीं कर रहे थे, जबकि इंग्लैंड में वे प्रोटेस्टेंट चर्च के संरक्षक थे। दूसरी बात यह समझ में आई कि वे भारत में यह स्वीकार नहीं कर सकते थे कि वे ईसाइयत फैलाएँगे, क्योंकि 1857 में वे मुश्किल से बचे थे। यदि कुछ भारतीय राजाओं की सहायता न मिली होती, तो उन्हें उसी समय भागना पड़ता।

उन्होंने बाहर से तो यह कहा कि वे सारी प्रजा को समान देखते हैं, लेकिन मन में यह बात बैठ गई थी कि हिंदू ही हैं जो उन्हें यहाँ से भगाएँगे, क्योंकि हिंदुओं में अपनी मातृभूमि का भाव है। मुसलमानों के बारे में उनके मन में यह विचार था कि उनका मूल अरब है, इसलिए उनका इस भूमि से वही अपनापन नहीं है जो हिंदुओं का है। इसी सोच के कारण वे परोक्ष रूप से मुसलमानों को उकसाते थे कि वे हिंदुओं पर हमला करें, और फिर निष्पक्षता का प्रदर्शन करते थे। संघ को इस संदर्भ में हिंदू समाज को संगठित होना आवश्यक लगा, ताकि यदि कहीं हमला हो तो हिंदू भी संगठित होकर प्रतिरोध कर सकें। इस तरह यह भी एक चुनौती थी।

दूसरी चुनौती ईसाई मिशनरियों की थी। वे ब्रिटिश शासन के संरक्षण में फैल रहे थे। मुसलमान 700 वर्षों से पूरे देश पर मुस्लिम शासन स्थापित करना चाहते थे, और ईसाई भी यही चाह रहे थे, हालांकि उनकी शैली अलग थी। वे प्रेम, शांति और सेवा की बातें करते हुए अपने मत का महिमामंडन करते और हिंदू पक्ष को नीचे दिखाने का प्रयास करते थे। संघ ने इन दोनों चुनौतियों को हाथ में लिया। उसका प्रारंभिक ध्यान

प्रत्यक्ष युद्ध पर नहीं, बल्कि हिंदू समाज को इकट्ठा करने पर था। क्योंकि तात्कालिक मारपीट का प्रश्न नहीं था। तो रोज मिलने-जुलने के लिए एक माध्यम चाहिए था। मंदिर तो एक माध्यम थे, लेकिन अंग्रेजों ने मंदिरों की संपत्ति हड़प ली थी, और मंदिरों को केवल पूजा-पाठ तक सीमित कर दिया गया था। वे सामाजिक केंद्र के रूप में कार्य नहीं कर पा रहे थे।

इसीलिए शाखा का एक सुंदर तरीका निकाला गया। जहाँ खेलते-कूदते, हँसते-हँसाते, साथ में देश की बात, समाज की बात होती थी, और संगठन का विस्तार किया जाता था। यह ऐसा माध्यम था जिसमें भाग लेने वाले को शुरू में बड़ा कार्य अनुभव नहीं होता था, लेकिन जो उसमें डूब जाता था, उसे पता चलता था कि कितना बड़ा काम है। इसी शैली में संगठन का विस्तार हुआ। हिंदू समाज ने इसे अपना काम समझकर बहुत आशीर्वाद दिया। देशभक्ति की प्रचंड भावना से युवक प्रचारक निकले, और संगठन व्यापक रूप से फैलने लगा।

1925 में शुरू होकर 1947 तक यह इतना विशाल हो गया कि देश भर में इसकी धमक दिखने लगी। यह नेहरू को भी अपनी सत्ता के लिए खतरनाक लगने लगा। इसके बाद गांधीजी की हत्या की घटना हुई, और उसी के बाद प्रतिबंध लगा दिया गया। संघ के कार्यकर्ता, जो जीवन देने वाले और समय देने वाले लोग थे, उन पर अत्याचार हुआ, उनके परिवारों पर हमले हुए, आगजनी हुई, लोग मारे गए, घायल हुए। हजारों घरों में आग लगाई गई, पथराव हुआ, और संगठन को फिर से संभलने में समय लगा।

इस बीच भारत में संविधान लागू हो गया। 1950 के बाद स्थिति यह थी कि जो गद्दी ट्रांसफर ऑफ पावर के जरिए मिली थी, उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। अंग्रेजों ने लंबे समय में एक ढांचा बनाया था कि भारत को कैसे नियंत्रित रखना है। आईएएस और आईपीएस की प्रणाली जारी रखी गई, और अंग्रेजों का 1935 का इंडिया एक्ट ही काफी हद तक जारी रखा गया। लेकिन जवाहरलाल नेहरू के मन में नया उत्साह था। उनका मन अंग्रेजियत और फिर सोवियत संघ की ओर भी झुकने लगा। वे भारत के राजाओं, राजवंशों और अपनी पुरानी परंपराओं से परिचित नहीं थे, इसलिए उन्हें इंग्लैंड और फिर लेनिन-स्टालिन का मॉडल अधिक आकर्षक लगा।

लेकिन अंग्रेज एक बात में सावधान थे। वे जानते थे कि भारत में धार्मिक मामलों से छेड़छाड़ करने पर आग लग सकती है। इसलिए वे फूंक-फूंक कर चलते थे। नेहरू और उनके साथियों ने सोचा कि सोवियत शैली में यहाँ भी सब कुछ नियंत्रित कर लिया जाए, लेकिन भारत में वैसी सीधी मारकाट करना संभव नहीं था। इसलिए लोकतंत्र रहने दिया गया, लेकिन बाकी नियंत्रण धीरे-धीरे अपने हाथ में लेने की कोशिश की गई। संघ वाले, क्योंकि अपनी रक्षा में लगे हुए थे, उन्होंने इस ओर ध्यान दिया कि 1947 से पहले नेहरू अंग्रेजियत के प्रति आकर्षित थे। सोवियत विचारों को लेकर संघ की उतनी समझ नहीं थी। उसकी भयावहता का अनुमान तब तक नहीं था।

इसी संदर्भ में भारत की समाज-रचना की बात आती है। परंपरा से भारत में समाज की इकाइयाँ कई स्तरों की मान्य थीं। जीवन की विविधता को हिंदू समाज समझता था। परिवार, कुल, जाति, मोहल्ला, गांव - ये स्वाभाविक सामाजिक इकाइयाँ थीं। कुल एक सामाजिक इकाई थी, जाति उसका व्यापक रूप थी, और भौगोलिक इकाई के रूप में मोहल्ला या गांव था। सनातन मूल्यों के अनुसार अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, संयम, अपरिग्रह, मर्यादित भोग, पवित्रता, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति आवश्यक माने जाते थे। कथाओं, कविताओं, शास्त्रों और पुराणों के माध्यम से जन-जन को यह ज्ञान था कि जीवन कैसे चलाना है। इस आधार पर पंचायतें थीं। कुल की पंचायत, जाति की पंचायत, गांव की पंचायत, खाप पंचायत आदि जो झगड़े सुलझाती थीं और न्याय देती थीं।

भारत में कर्मफल और पुनर्जन्म की गहरी भावना थी। यदि कोई अन्याय करेगा, तो पाप लगेगा, भगवान नाराज होंगे। यह सिर्फ नैतिक भावना नहीं, बल्कि न्याय का आधार था। प्रेमचंद की "पंच परमेश्वर" कहानी में भी यही दिखाया गया है कि पंच बनकर बैठने के बाद झूठ नहीं बोला जाता, न्याय करना पड़ता है। लेकिन आधुनिक राज्य ने इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया।

समाज की इकाई कुल के स्थान पर व्यक्ति को बना दिया गया। 18 वर्ष का होते ही मनुष्य को स्वतंत्र नागरिक मान लिया गया, जो माता-पिता, परिवार और कुल के अनुशासन से

लगभग मुक्त हो गया। पंचायतों का विधिक अस्तित्व समाप्त कर दिया गया, और केवल सरकारी ढांचे के भीतर उनकी औपचारिकता बची। जो शासन का ही एक अवर स्तरीय ढांचा मात्र बन गया।

शिक्षा में भी यही हुआ। पहले तो यह बहस चलती थी कि शिक्षा सरकार क्यों चलाए, लेकिन फिर सोवियत मॉडल की नकल में शिक्षा, संचार, खेती, व्यापार, सब पर शासकों का नियंत्रण बढ़ा। हिंदू धर्म की पढ़ाई शिक्षा से बाहर कर दी गई। मुसलमानों और ईसाइयों को अल्पसंख्यक कहकर अलग संस्थान चलाने की सुविधा दी गई, जहाँ वे सरकारी खजाने से धन पाकर कुरान, हदीस, बाइबल आदि पढ़ा सकते थे, लेकिन हिंदू को अपने वेद, शास्त्र और पुराण सरकारी खजाने से संचालित संस्थानों में पढ़ाने की अनुमति नहीं मिली। इसके बदले उन्हें नेहरूवादी विचार, कथित वैज्ञानिक स्वभाव और समाजवाद जैसी चीजें पढ़ाई गईं।

ऐसे ही न्याय व्यवस्था भी बदली। पहले हिंदू, मुसलमान और ईसाई अपने-अपने धर्मशास्त्रों के अनुसार निर्णय लेते थे। लेकिन बाद में हिंदुओं के लिए अंग्रेजी कानून और अंग्रेजी पढ़े-लिखे वकील निर्णायक बन गए। हिंदू धर्म की शिक्षा का विधिक महत्व समाप्त कर दिया गया। कुल, पंचायत, गांव पंचायत, खाप पंचायत, सबकी विधिक स्थिति समाप्त हो गई। न्याय की परंपरागत प्रणाली का अस्तित्व खत्म किया गया। इसी तरह परिवार को भी कमजोर किया गया। माता-पिता का बच्चों पर अनुशासन ढीला पड़ गया, और 18 वर्ष की उम्र के बाद बालक या बालिका को पूर्ण स्वतंत्र नागरिक मान लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि परिवार की अखंड संरचना टूटने लगी।

समाज में देहवाद, भोगवाद, नशा, और अनुशासनहीनता को बढ़ावा मिला। सरकार शराब की दुकानें खोलती है और मध्य निषेध के भाषण भी देती है। इसी प्रकार समाज के मन और व्यवहार में अनाचार और व्यभिचार बढ़ाने का पूरा प्रबंध शासकीय तंत्र के द्वारा या उसके संरक्षण में किया जाता है और फिर सभी नेता भाषणों में अनाचार, व्यभिचार और भ्रष्टाचार का विरोध करते है। संचार माध्यमों, बाजार, शिक्षा और संस्कृति के नाम पर वही वातावरण बनाया गया जिसमें हिंदू समाज की परंपराओं को उपहास के योग्य प्रचारित किया जा सके। संघ के सामने असली चुनौती यही है कि पहले यह समझा जाए कि हिंदू समाज से क्या छीना गया है, और राज्य ने उसे किस तरह शक्तिहीन और विकृत किया है। यदि समस्या का सही निदान नहीं होगा, तो उपचार भी सही नहीं होगा।

इस दृष्टि से संघ के सामने और हिंदू समाज के सामने एक ही चुनौती है। राज्य द्वारा बलपूर्वक लाए गए परिवर्तनों को समझना, उनकी पहचान करना और हिंदू समाज की स्वाभाविक इकाइयों, परंपराओं, ज्ञान-धाराओं और न्याय-धाराओं को फिर से प्रतिष्ठित करना। कुल को समाज की स्वाभाविक इकाई विधिक और न्यायिक स्तर पर मानना होगा, परिवार को उसके उचित अधिकार और अनुशासन के साथ समझना होगा, और राज्य द्वारा छीन लिए गए संरचनात्मक अधिकारों पर पुनर्विचार करना होगा।

1947 के बाद राज्यकर्ताओं ने हिंदू समाज के भीतर जो बलात परिवर्तन लाए हैं, उन्हें समझे बिना संघ द्वारा राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओं का समाधान और चुनौतियों का सामना नहीं किया जा सकता। हिंदू समाज की स्वाभाविक इकाइयों, न्याय-परंपराओं, ज्ञान-परंपराओं और परिवार की अखंडता को फिर से स्थापित करना होगा। ■

राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में संघ की भूमिका

डॉ. उमेश चन्द्र त्रिपाठी

भारत के राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में जिन महापुरुषों, विचारधाराओं, मतों, संस्थाओं आदि का सर्वाधिक योगदान रहा है, उनमें संघ (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यातव्य है कि इस सांस्कृतिक राष्ट्रवादी संगठन (संघ) की स्थापना 1925 की विजयादशमी को स्वनामधन्य डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार (1889-1940) द्वारा हुई थी। इसका राष्ट्रवाद भारत-भूमि, समाज, संस्कृति, इतिहास और प्राचीन भारतीय सनातन संस्कृति के श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों पर आधारित है। भारतीय इतिहास की यह एक बहुमूल्य उपलब्धि ही है कि नागपुर के पाँच-छह उत्साही युवकों द्वारा चलाया गया सांस्कृतिक अभियान आज विश्व का कदाचित् सर्वाधिक व्यापक और सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध स्वयंसेवी संगठन बन गया है।

डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार जी का स्पष्ट अभिमत था कि भारतीय राष्ट्रवाद का आधार धर्म नहीं, अपितु संस्कृति है। संघ की निष्ठा मूलतः भारत-भूमि के प्रति है। संघ की दृष्टि में भारत पुण्य और पितृभूमि है। "यह अकाट्य और कठोर सत्य है कि इस संस्था का प्रधान उद्देश्य हिन्दू समाज को संगठित करना है और एक सीमा तक यही इस संस्था का राष्ट्रीय कार्य भी है।"

भारतीय राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में जिन महापुरुषों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा, उनमें माधव सदाशिव गोलवलकर 'गुरुजी' (1906-1973) की अहम भूमिका रही है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे गुरुजी ने संघ को अपने समर्पण और सेवा-भावना से जो आकार दिया, वह स्वतंत्र रूप से शोध और ग्रंथ-प्रणयन का विषय है। इसी क्रम में बाबासाहेब देवरस (1915-1996) का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। आपने सामाजिक समरसता पर बल देने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। जातिवादी व्यवस्था के आप घोर विरोधी थे। आपका मानना था कि अगर छुआछूत नहीं मिटेगी तो हिन्दू एकता की बात बेमानी है।

सांस्कृतिक विचारधारा के समवाहक आदरणीय पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने भारतीय संस्कृति और समाज के लिए जो महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य किया, वह सर्वविदित है। इन महान विभूतियों ने राष्ट्र और राष्ट्रधर्म को सर्वोपरि माना और राष्ट्रीय चेतना जन-जन में जागृत करने की दृष्टि से जो महनीय कार्य किया, वह सदा सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

इस दृष्टि से प्रो. राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया) का नाम उल्लेखनीय है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी के विभागाध्यक्ष रहे रज्जू भैया ने राष्ट्रधर्म को स्वीकारा और विश्वविद्यालय सेवा का परित्याग कर दिया। यह घटना इस बात की परिचायक है कि संघ के कार्यकर्ता समाज, संस्कृति और राष्ट्र के लिए समर्पित हैं, न कि भोग-विलास, अर्थ-सुख और यशलिप्सा के लिए।

संघ ने सदैव समाज, संस्कृति और देशहित की बात की है। यह दावा कदापि नहीं करता कि संघ ही सर्वोपरि है और समाज गौण। व्यक्ति ही समाज की आधारशिला है। बिना व्यक्ति के समाज की परिकल्पना भी असंभव है।

महत्वपूर्ण तथ्य को स्वीकारते हुए आदरणीय मोहन भागवत जी कहते भी हैं, "संघ ने कुछ नहीं किया, समाज ने किया। संघ ने सिर्फ लोगों को जोड़ने का कार्य किया। राष्ट्रवाद किताब से नहीं, आचरण से आता है।"

एक उन्नत और समृद्ध राष्ट्र के लिए जो भी अपेक्षित तत्व हैं, उनका अधिकांश संघ के सिद्धांत और कार्यशैली में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसका लक्ष्य उच्च मानवीय मूल्यों की स्थापना तथा श्रेष्ठ समाज के ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना भी है जो मनुष्यता के लिए समर्पित हो।

जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठकर सम्पूर्ण वसुधा को ही कुटुम्ब मानने का भाव संघ की अपनी शाखा की दिनचर्या और आधारशिला है। जीवन का ऐसा कोई भी सकारात्मक क्षेत्र नहीं है जिसका संबंध संघ की कार्यशैली से नहीं हो। संघ की कार्यशैली एक विकसित राष्ट्र की धरोहर है। समय की पाबंदी, समर्पण-भाव, मानवता के प्रति सेवा-सहानुभूति का संकल्प, अनुशासन, व्यक्ति के उत्तम और आदर्श चरित्र-निर्माण आदि अनेक ऐसे विषय हैं जो सनातन संस्कृति की धरोहर हैं और जिनके प्रति समर्पण का भाव अपनी समग्रता में संघ तथा इसके उद्देश्य में सहज ही देखा, सुना और अनुभव किया जा सकता है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में संघ के महान देशभक्तों और राष्ट्रभक्तों की जो अद्वितीय समर्पण-भावना और त्याग रहा है, वह प्रशंसनीय और प्रत्येक नागरिक के लिए अनुकरणीय है।

भारतीय संस्कृति और समाज के लिए बाबासाहेब देवरस का यह विचार कि "यदि छुआछूत नहीं मिटेगी तो हिन्दू एकता की बात बेमानी है", सामाजिक समरसता के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। उनके द्वारा सांस्कृतिक तथा सामाजिक उत्थान के जो महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य किए गए, वे सर्वविदित हैं। इन महान विभूतियों ने राष्ट्र और राष्ट्रधर्म को सर्वोपरि माना और राष्ट्रीय चेतना को जन-जन में जागृत करने की दृष्टि से जो कार्य किया, वह सदा-सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

इस दृष्टि से प्रो. राजेन्द्र सिंह 'रज्जू भैया' का नाम उल्लेखनीय है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी के विभागाध्यक्ष रहे रज्जू भैया ने राष्ट्रधर्म को स्वीकार कर अपने पद का त्याग कर दिया और संघ की अथक सेवा में स्वयं को समर्पित कर दिया। यह घटना इस बात की परिचायक है कि संघ के कार्यकर्ता समाज, संस्कृति और राष्ट्र के लिए समर्पित होते हैं, न कि भोग-विलास, अर्थ-सुख और यशलिप्सा के लिए।

संघ ने सदैव संस्कृति और देशहित के लिए कार्य किया है। अनेक स्वयंसेवकों ने अपने व्यक्तिगत हितों का त्याग कर राष्ट्रसेवा को सर्वोपरि माना। राष्ट्रवादी विचारधारा के पोषक के रूप में संघ ने समाज के सहृदय सहयोग से बहुत-से कार्य किए हैं।

इसका अपेक्षित लक्ष्य उच्च मानवीय मूल्यों की स्थापना

तथा श्रेष्ठ समाज के साथ ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना है जो मनुष्यता के लिए समर्पित हो। जातिगत संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण वसुधा को कुटुम्ब मानने का भाव संघ की विचारधारा का आधार रहा है। जीवन का ऐसा कोई भी सर्वांगीण क्षेत्र नहीं है जो संघ की कार्यशैली से किसी न किसी रूप में प्रभावित न हुआ हो।

संघ की कार्यशैली विचारणीय एवं अनुकरणीय है। समय की पाबंदी, समर्पण-भाव, मानवता के प्रति सेवा-सहानुभूति, अनुशासन तथा उत्तम एवं आदर्श चरित्र-निर्माण जैसे अनेक विषय राष्ट्र-जागरण और समाज-निर्माण के लिए अपेक्षित हैं। इन मूल्यों के प्रति समर्पण का भाव अपनी समग्रता में संघ तथा उसके उद्देश्यों में सहज ही देखा, सुना और अनुभव किया जा सकता है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में संघ के महान देशभक्तों का अमूल्य त्याग रहा है, जो प्रशंसनीय और प्रत्येक नागरिक के लिए अनुकरणीय है। 1857 की क्रांति से लेकर स्वाधीनता प्राप्ति तक (1947) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संघर्ष अद्वितीय रहा है। इस पावन कार्य में संस्थापक व्यक्तित्व से लेकर मोहन भागवत तक की जो सराहनीय राष्ट्रभक्ति रही है, वह प्रत्येक भारतीय के लिए प्रेरणा का विषय है।

राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पण का भाव यदि किसी मंच और विचारधारा में अपनी समग्रता में देखना हो, तो प्रथम दृष्टया हमारा ध्यान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ओर अनायास चला जाता है। संघ और इसकी शाखाएँ चरित्र-निर्माण की दृष्टि से एक व्यापक और विशाल कार्यशाला-प्रयोगशाला हैं। सामान्यतः प्रतिदिन लगने वाली शाखाओं में मनुष्यता और मातृभूमि के लिए जो सेवा और समर्पण-भावना होती है, उसका निर्वाह अपनी समग्रता में देखने योग्य है।

उत्तम चरित्र-निर्माण, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य तथा शुद्धि के लिए योग-साधना आदि अनेक उपयोगी विषयों पर चर्चा शाखा की एक अनोखी विशेषता है। संघ की कार्यशैली और विशेषता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. हेडगेवार जी ने संघ के संदर्भ में जो अभिमत दिया है, वह विचारणीय है। उनका मत है— "संघ कोई क्लब नहीं, यह चरित्र-निर्माण की टकसाल है।" सूत्र-वाक्य के रूप में उनका यह कथन आज भी पूर्णतः प्रासंगिक है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है— विविधता में एकता, जिसे संघ ने अपना मूल मंत्र माना है। भारत अनेक पंथों, विचारधाराओं, संस्कृतियों, जातियों और धर्मों से युक्त एक श्रेष्ठ राष्ट्र है, जिसका कोई विकल्प नहीं है। व्यक्ति राष्ट्र की इकाई है और व्यक्ति द्वारा राष्ट्र-निर्माण का संकल्प संघ की प्राथमिकता है।

समृद्ध राष्ट्र का निर्माण विरोध-प्रदर्शन, साम्प्रदायिक दंगे अथवा समाज और व्यक्ति को उकसाने वाले नारों से नहीं, अपितु सर्वधर्म समभाव, समता, त्याग, परस्पर सद्भाव, आपसी प्रेम और भाईचारे जैसे मानवीय मूल्यों के समन्वय से होता है। इस कसौटी पर भी संघ की कार्यशैली राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में अपनी वैचारिक श्रेष्ठता एवं सेवा-सहयोग भावना के लिए विश्वविख्यात है। इस विचारधारा की जितनी भी सराहना की जाए, कम है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपने सांस्कृतिक प्रतीकों और राष्ट्रभावना को सदैव सम्मान दिया है। आज संघ के समस्त कार्यक्रमों और कार्यालयों में राष्ट्रध्वज का जो सम्मान होता है, वह राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण और राष्ट्रसम्मान का एक अद्वितीय उदाहरण है। राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में आर.एस.एस. की मनसा, वाचा और कर्मणा समर्पित भूमिका एक सांस्कृतिक और सराहनीय पहल है।

जीवन के विविध क्षेत्रों में ऐसे चरित्रवान साधक और समर्पित राष्ट्रसेवक सहज ही मिल जाते हैं जिनका पावन चरित्र, अनुशासन, समय की पाबंदी, व्यापक मानवतावाद, समर्पित सेवा-भावना, प्राकृतिक सम्पदा के संरक्षण का भाव तथा व्यापक राष्ट्रधर्म जैसी दिव्य विशेषताएँ अपनी समग्रता में प्रशंसनीय हैं। यही संघ का परम ध्येय भी है।

संघ की सेवा-भावना का एक अलग ही महत्व है। मानवता की सेवा में मूलतः समर्पित संघ युद्ध, अकाल, महामारी तथा मानव-जीवन की रक्षा के लिए रक्तदान शिविरों के आयोजन, शरणार्थी शिविरों के माध्यम से पीड़ित मानवता की सेवा आदि कार्यों की एक लंबी श्रृंखला प्रस्तुत करता है, जो भारतीय राष्ट्रीय चरित्र का मेरुदण्ड है।

गुजरात की भयंकर त्रासदी हो या सुनामी, केदारनाथ की प्राकृतिक आपदा हो अथवा कोविड से ग्रसित रोगियों की सेवा-भावना— ऐसे अनेक उल्लेखनीय कार्य हैं जिनसे

संघ की राष्ट्रीय छवि अपनी उत्कृष्ट सेवा-भावना का उदाहरण प्रस्तुत करती है। प्राणीमात्र को समर्पित संघ की सेवा-भावना का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। एक छोटे से आलेख में इसकी चर्चा करना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है।

इस सहयोग और सेवा-भावना पर जितना भी लिखा-पढ़ा जाए, कम ही होगा। यह सेवा-भावना मानवता की रक्षा के लिए किया जाने वाला ऐसा पावन कार्य है जो नर के रूप में नारायण की पूजा के समान है। भारत-भूमि में उपजे विविध धर्म भी इस पावन कार्य में समर्पित भाव से लगे हुए हैं और स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छता आदि अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं। संघ भी उनमें से एक है।

देशभक्ति, साहस, त्याग, बलिदान, उत्कृष्ट सेवा-भावना, कठोर अनुशासन, व्यापक चरित्र-निर्माण, समता का भाव तथा जातिविहीन समाज के निर्माण जैसे दिव्य मानवीय मूल्य मनुष्यता के भूषण हैं। इन्हीं मूल्यों से किसी भी राष्ट्रपुरुष की श्रेष्ठता की पहचान बनती है। इस दृष्टि से भारत की राष्ट्रीयता और उसका राष्ट्रीय चरित्र विश्व में अनोखा है, जिसकी सराहना सदैव होती रही है।

भारत की राष्ट्रीय पहचान राम, कृष्ण, बुद्ध, विनोबा, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक, वीर सावरकर जैसे शताधिक महापुरुषों के पावन व्यक्तित्व और कृतित्व से निर्मित हुई है। यही कारण है कि भारत आज जीवन के विविध क्षेत्रों में अपने सांस्कृतिक ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति के आधार पर विश्वगुरु के रूप में अपनी पहचान बना रहा है।

अपने महान पूर्वजों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए उनकी त्याग और कर्तव्य-भावना को अपने ज्ञान, क्रिया और आचरण में उतारना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है। हम सब इस दिशा में पूरी तन्मयता और निष्ठा के साथ समर्पित होकर राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में अपनी विनम्र आहुति दे रहे हैं।

इस कार्य में भारत के जितने भी व्यक्ति, समाज, धर्म और संस्थाएँ राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर रही हैं, उनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भी अपनी विशिष्ट भूमिका है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अतः संक्षिप्तता और समग्रता में यह विनम्रतापूर्वक कहा और स्वीकार किया जा सकता है कि राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में संघ की भूमिका प्रशंसनीय है। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। जाति, धर्म, सम्प्रदाय और विचारधारा से ऊपर उठकर अपने पूर्वजों के यशोगान और कृतित्व का सदैव स्मरण करते हुए, उनके सत्कर्मों को अपना पाथेय मानकर निरंतर प्रगति-पथ पर अग्रसर रहना हमारी प्रकृति रही है।

इस पावन पथ पर सदा-सर्वदा चलते रहना तथा भारत-भूमि की सेवा-भावना के साथ राष्ट्रपुरुषों का सम्मान और पूजन करना हमारा अभीष्ट रहा है। समृद्ध राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में गिलहरी-भाव से किया गया हमारा प्रयास एवं संकल्प ही हमारा लक्ष्य भी है। ■

शास्त्रीनगर, मोतिहारी

शाखा से शिखर तक : संघ की शताब्दी साधना

धनंजय उदय

विजयादशमी का वह दिन— 27 सितम्बर, 1925, नागपुर की भूमि पर डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने जो बीज बोया, किसी को अनुमान भी न रहा होगा कि वह आगे चलकर विश्व के सबसे बड़े सांस्कृतिक संगठन का वटवृक्ष बनेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की यह सौ वर्षों की यात्रा केवल संगठन का इतिहास नहीं है, बल्कि भारत के नवजागरण की कथा है।

बीसवीं सदी का भारत राजनीतिक दासता, सामाजिक विखंडन और सांस्कृतिक हीनभावना से ग्रस्त था। स्वतंत्रता संग्राम चल रहा था, लेकिन उस समय स्वाधीनता की लड़ाई के साथ समाज को जागृत एवं संगठित करने की आवश्यकता थी। डॉ. हेडगेवार का स्पष्ट मानना था कि राजनीतिक स्वाधीनता पर्याप्त नहीं है, जब तक समाज सशक्त, संगठित और आत्मगौरव से परिपूर्ण न हो।

भारत के गौरव की पुनर्स्थापना का एकमात्र मार्ग हिन्दू समाज का संगठन है। इसलिए संघ का जन्म किसी सत्ता-लालसा या राजनीतिक आकांक्षा से नहीं हुआ। उसके पीछे एक गहरी अनुभूति थी कि राष्ट्र यदि आत्मबल से रिक्त रहेगा तो राजनीतिक स्वतंत्रता अधूरी होगी।

डॉ. हेडगेवार ने संगठन, अनुशासन और राष्ट्रभक्ति को केंद्र में रखकर शाखा की परंपरा आरम्भ की। यह साधारण-सा प्रयोग, जिसने खेल और गीतों से प्रारंभ होकर व्यक्ति के जीवन में आत्मगौरव और चरित्र-निर्माण का संस्कार भरा, कालांतर में राष्ट्रजीवन का सूचक बन गया।

आज संघ सौ वर्षों का हो चुका है। अपनी गौरवपूर्ण सौ वर्षों की यात्रा पूरी करने के बाद भी प्रतिदिन अपना विस्तार करने वाला संघ विश्व का एकमात्र संगठन है। सौ वर्षों में संघ ने बार-बार सिद्ध किया है कि उसका ध्येय कभी विरोध या प्रतिरोध नहीं, बल्कि सकारात्मक राष्ट्र-निर्माण है।

विभाजन की त्रासदी में शरणार्थियों की सेवा, आपातकाल के अंधकार में सत्य और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, प्राकृतिक आपदाओं में पीड़ितों की निरंतर सेवा, स्वास्थ्य, शिक्षा और आज ग्रामोदय से लेकर राष्ट्रोदय तक— यह संघ के चरित्र की पहचान है।

संघ ने भारत को यह आत्मविश्वास दिया है कि हम केवल एक भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि एक सजीव सांस्कृतिक राष्ट्र हैं। यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आज राजनीति, समाज और अकादमिक विमर्श में एक केंद्रीय विचार के रूप में प्रतिष्ठित है।

आलोचकों, प्रतिबंधों और अवरोधों के बावजूद संघ की जड़ें और गहरी हुई हैं, क्योंकि उसकी शक्ति किसी व्यक्ति या सत्ता में नहीं, समाज की आत्मा से आती है।

आज जब संघ शताब्दी वर्ष मना रहा है, तब उसका दृष्टिकोण और अधिक व्यापक हुआ है। संघ केवल भारत के भीतर नहीं, बल्कि विश्वभर में फैले हिन्दू समाज का सांस्कृतिक ध्रुवतारा बन चुका है। हिन्दू स्वयंसेवक संघ द्वारा अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका और एशिया में संचालित शाखाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि भारतीय संस्कृति का संदेश वैश्विक मंच पर भी प्रासंगिक और प्रेरणादायी है।

परन्तु यह उत्सव केवल अतीत की स्मृतियों का नहीं, भविष्य की साधना का भी अवसर है। आने वाले समय में भारत को सामाजिक समरसता, पर्यावरण, नागरिक कर्तव्य, परिवार प्रबोधन तथा आत्मनिर्भरता की दिशा में लंबी यात्रा करनी है। संघ इसी दिशा में अग्रसर है।

सौ वर्षों की यह साधना हमें यही संदेश देती है कि राष्ट्र केवल सत्ता से नहीं, समाज की आत्मा से जीवित रहता है। और उस आत्मा को जागृत रखने का श्रेय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को है। ■

शोधार्थी

महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, बिहार

संघ की अथक-अविराम सिद्ध यात्रा के सौ वर्ष...

करुणा सागर पण्डा

संघ शतकीय आयु के साथ अपनी स्थापना का उत्सव मना रहा है। संघ के इन १०० वर्षों की यात्रा को कौन कितनी सटीकता से बता सकता है, यह उस बात पर निर्भर करता है कि उसने संघ को कितने विस्तार से समझा है। जिसकी समझने की सीमा जहां तक फैली है, संघ को भी वह उतना ही समझ पाया है। ऐसे में यदि कोई यह कहता है कि संघ के होने का सही अर्थ ठीक-ठीक यही है... तो उसका ऐसा कहना दंभ भरना मात्र है। असीमता कभी नापी नहीं जाती, तौली नहीं जाती।

संघ की प्रसिद्धि उसकी आयु से नहीं, उसके फलदायी होने से है। वैसे किसी भी व्यक्ति, वंश या स्थापित किसी संगठन की प्रसिद्धि हमेशा उसकी आयु से अधिक उसके द्वारा अर्जित सफलताओं से होती है और सफल वही होता है जो परंपराओं से आबद्ध हो। इस देश की परंपरा ऋषि प्रधान और कृषि प्रधान रही है। हम अपनी संस्कृति तथा जीवन मूल्यों को ऋषियों से प्राप्त करते हैं और जीवन के संसाधनों को कृषि से प्राप्त करते हैं। राम ऋषि परंपरा से पोषित थे और सीता जी भूमिजा थीं, वह कृषि परंपरा से थीं। जो भी संगठन इन परंपराओं का अनुगामी होगा वही दीर्घायु होने के साथ-साथ समृद्ध भी होगा। संघ ने भी ऋषि परंपरा द्वारा स्थापित धर्म की बुनियादी लक्षणों को कभी नहीं छोड़ा। शायद इसलिए ही संघ आज विजयी है।

इस देश में वामपंथ को भी औपचारिक रूप से स्थापित हुए १०० वर्ष पूर्ण हो चुके हैं और जब भी कभी मैं यह विचार करता हूँ कि वामचेतना भारतवर्ष में अपने समकालीन संघ की तुलना में कम प्रभावी क्यों रह गई तो एक मोटी बात जिसे मैं समझ पाता हूँ, वह यह कि इस देश के लोगों को ऋषियों द्वारा स्थापित मूल्यों से विमुख करके कोई सफल नहीं हो सकता। लगभग ८०० वर्षों की अधीनता के बाद भी इस देश के रक्त में कभी न तो पूरा इस्लाम बह सका, न ईसाइयत और न ही कम्युनिज्म। एक कमी-बेशी संक्रमण के साथ इस सभ्यता के शिराओं में हिंदुत्व का ही रक्त बह रहा है। ऐसे में 'धर्म की जय हो' कहने वाली इस सभ्यता के लिए संघ को स्वीकारना एक स्वभावसिद्ध आचरण है।

यदि कोई सामान्य व्यक्ति संघ के कार्य का अवलोकन

करे तो उसे संघ का कार्य नीरस और उदासीन लगेगा। जानते हैं, क्यों? क्योंकि सकारात्मकता में वह वेग या प्रवाह नहीं होता जितना कि एक नकारात्मक ऊर्जा के साथ रहता है। कोई दूसरा लाभान्वित हो उसके लिए अपनी प्रसन्नता का त्याग करने वाला कार्य हमेशा से नीरस ही दिखाई पड़ता है। कार्य में जब प्रतिस्पर्धा न हो तो उसका नीरस दिखाई पड़ना सहज है। व्यक्ति के चरित्र निर्माण का कार्य, उसको दायित्ववान बनाने के कार्य में मनोरंजन कहाँ है कि वह उबाऊ न लगे? संघ का कार्य सकारात्मक है और उसकी गति मंद है, इसलिए ही उन कार्यों के दूरगामी परिणाम सदैव आशानुरूप ही आते हैं। संघ का कार्य रचनात्मक है। धीरे-धीरे ही सही लेकिन बिना किसी की रेखा को छोटी किए अपनी रेखा को लंबी खींचने की योग्यता केवल संघ के पास ही है। संघ क्रांति की बात नहीं करता, वह 'स्व जागरण' का उद्घोष करता है।

दुनिया के देश सभ्यता मूलक हैं, भारत संस्कृति-मूलक है। संघ का कार्य भी संस्कृति मूलक है। वह संस्कार की परंपरा को पीढ़ियों में उतारता चला जा रहा है। भारतीय संस्कृति विश्ववारा है। विश्व का कल्याण हो कहने वाली संस्कृति है। संघ भी दूसरों को कुचलकर आगे बढ़ जाने को अपनी योग्यता का प्रमाण नहीं मानता। गिरे हुए को उठाकर चलने वाली परंपरा संघ संस्कृति का प्राणतत्व है।

अभी यह यात्रा शून्य से शतक तक ही हुई है, लेकिन आगे इसे और चलना है, चलते रहना है। भारत के विश्वगुरु बनने तक और बन जाने के बाद भी यह यात्रा अनथक चलती रहेगी क्योंकि जिसके गुरुपद पर व्यक्ति नहीं भगवाध्वज हो, जिसकी आराध्या देवी भारतमाता हो, जो छत्रपति शिवाजी महाराज, महाराणा प्रताप और गुरु गोविंद सिंह जैसे वीर सपूतों की वंदना करे, जिसका ध्येय 'भारत माता की जय' हो...... वह किसी छोटे लक्ष्य का यात्री हो ही नहीं सकता और संघ का अंतिम लक्ष्य तो इस राष्ट्र को परम वैभव तक पहुंचाना है।

राष्ट्राय स्वाहा! इदं राष्ट्राय, इदं न मम!! ■

रायपुर (छत्तीसगढ़)

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और वैचारिकी

डॉ. परमात्मा कुमार मिश्र

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक विचार है जो राष्ट्र की पहचान उसकी संस्कृति, परंपराओं, भाषा, धर्म और ऐतिहासिक विरासत से निर्धारित होती है। केवल राजनीतिक सीमाओं से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को देखना सही नहीं है। इसे गहरे अर्थों में देखेंगे तो पायेंगे कि राष्ट्र एक सांस्कृतिक समुदाय है।

इसमें साझा मूल्य, प्रतीक, परंपराएं और जीवन शैली अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा में भारतीय सभ्यता, धर्म और परंपराओं को आधार माना जाता है।

भारतीय सभ्यता के मूल में जाएं तो हजारों वर्षों की संस्कृति हमें चमत्कृत करती है। दुनिया की सबसे प्राचीन, समृद्ध और विविध संस्कृतियों में से एक भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों में विकसित हुई है और इसमें अनेक परंपराएँ, विचारधाराएँ, भाषाएँ, धर्म और जीवनशैली शामिल हैं। इतिहास गवाह है कि भारतीय संस्कृति में बाद में भले ही अनेक परम्परा, विचारधारा, भाषा, धर्म और जीवनशैली जुड़ी लेकिन उसका मूल वेदों और उपनिषदों से अनुप्राणित रही। यहां प्रारम्भ में भाषा के रूप में संस्कृत ही संचार और विचारों की संवाहिका थी। आध्यात्मिकता, सहिष्णुता और समन्वय का दर्शन, मानव सहित पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीवधारियों के कल्याण की बात, पर्यावरण को शुद्ध बनाने की चिंता हमें विश्व के अन्य देशों

की संस्कृति से अलग अनोखेपन का एहसास कराती है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को जानने के लिए इसके पीछे छुपी वैचारिकी को समझना जरूरी है। वैचारिकी दरअसल एक ऐसी संगठित विचार प्रणाली है जो हमें समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था को देखने का दृष्टिकोण प्रदान करती है। वैचारिकी से ही पता चलता है कि समाज कैसा होना चाहिए। राष्ट्रवाद, समाजवाद, उदारवाद, संस्कृतनिष्ठ समाज या राष्ट्र, वैश्विक उदारवाद आदि अनेक उदाहरण है जो वैचारिकी अर्थात संगठित विचार प्रणाली की उपज और विकास का द्योतक है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को वैचारिकी के साथ जोड़कर देखें तो पाएंगे कि वैचारिकी एक महत्वपूर्ण बौद्धिक एवं राजनीतिक विषय है, जो राष्ट्र, संस्कृति और विचारधारा के आपसी सम्बंध को समझने में सहायता करता है। भारत या दुनिया के किसी भी देश के संदर्भ में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक विशेष प्रकार की वैचारिकी है, जहां सांस्कृतिक पहचान पर जोर राष्ट्र की आत्मा उसकी संस्कृति में मानी जाती है। इसके साथ ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में परम्पराओं और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने पर बल दिया जाता है जो भारत के संदर्भ में यह अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि हमारी परम्पराओं की एक लंबी और विस्तृत श्रृंखला के साथ सांस्कृतिक विरासत असंख्य और अद्वितीय है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की वैचारिकी ही है जो हमारी अतीत की उपलब्धियों और गौरवशाली इतिहास को महत्व प्रदान करती है। इससे राष्ट्र के प्रति आत्मगौरव बढ़ाने का भी प्रयास सुखद है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की वैचारिकी ही है जो एकता और सामूहिकता को साझा संस्कृति के आधार पर समाज को एकजुट करने का प्रयास किया जाता है। यह भी देखा जाता है कि यह विचारधारा कई बार राजनीतिक आंदोलनों और नीतियों को प्रभावित करती है।

भारतीय संदर्भ में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का विचार अपनी संस्कृति, परम्परा, भाषा, विरासत और राष्ट्र को मजबूत बनाने वाले सभी के प्रति अनुराग से है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को केवल किसी एक धर्म और सम्प्रदाय को लेकर परिभाषित नहीं किया जा सकता। दरअसल यह राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देता है। साथ ही परंपराओं और विरासत का संरक्षण करता है। कुछ स्वार्थी तत्व सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को विविधता वाले समाज में टकराव की संभावना के रूप में देखते है जो अनुचित है। अल्पसंख्यकों के प्रति असहिष्णुता का खतरा भी इसी संकुचित मानसिकता का परिणाम है। भारत जैसे बहुसांस्कृतिक देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एकता और विविधता के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करता है। लेकिन यह बहस भी उत्पन्न करता है कि राष्ट्र की पहचान एक ही संस्कृति से होनी चाहिए या बहुसांस्कृतिक स्वरूप से।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक ऐसी वैचारिकी है जो राष्ट्र को उसकी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ती है। यह सकारात्मक रूप से राष्ट्रीय एकता और गौरव को बढ़ा सकता है, लेकिन इसके साथ समावेशिता और विविधता को बनाए रखना भी उतना ही जरूरी है।

सहायक प्रोफेसर
मीडिया अध्ययन विभाग
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी, बिहार

नमस्ते सदा वत्सले
(संघ प्रार्थना)

नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे
त्वया हिन्दुभूमे सुखवं वर्धितोऽहम्।
महामङ्गले पुण्यभूमे त्वदर्थे
पतत्वेष कायो नमस्ते नमस्ते॥१॥

प्रभो शक्तिमन् हिन्दुराष्ट्राङ्गभूता
इमे सादरं त्वां नमामो वयम्
त्वदीयाय कार्याय बद्धा कटीयम्
शुभामाशिषं देहि तत्पूर्तये।
अजय्यां च विश्वस्य देहीश शक्तिम्
सुशीलं जगद्येन नम्रं भवेत्
श्रुतं चैव यत्कण्टकाकीर्णमार्गम्
स्वयं स्वीकृतं नः सुगंकारयेत्॥२॥

समुत्कर्ष निःश्रेयसस्यैकमुग्रम्
परं साधनं नाम वीरव्रतम्
तदन्तः स्फुरत्वक्षया ध्येयनिष्ठा
हृदन्तः प्रजागर्तु तीव्राऽनिशम्।
विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिर्
विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्
परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्
समर्था भवत्वाशिषा ते भृशम्॥३॥

॥भारत माता की जय॥

SANATAN LIFE STYLE
FOUNDATION
Join
Sanatan Life Style Foundation
We teach:
MindZen
FocusFlow
FearlessMe
VisionForge
Holistic360
Experience transformative changes in your life.
Join us for a stress-free, joyful, and healthier living.
Write to mailofsanatanlifestyle@gmail.com